[१३]

अथ विवाहसंस्कारविधिं वक्ष्यामः

'विवाह' उसे कहते हैं कि जो पूर्ण ब्रह्मचर्यव्रत से विद्या बल को प्राप्त तथा सब प्रकार से शुभ गुण, कर्म, स्वभावों में तुल्य, परस्पर प्रीतियुक्त होके निम्नलिखित प्रमाणे सन्तानोत्पत्ति और अपने-अपने वर्णाश्रम के अनुकूल उत्तम कर्म करने के लिये स्त्री और पुरुष का सम्बन्ध होता है । इसमें प्रमाण–

उदगयन आपूर्यमाणपक्षे पुण्ये नक्षत्रे* चौलकर्मोप-नयनगोदानविवाहाः ॥१॥

सार्वकालमेके विवाहम् ॥२॥ यह आश्वलायन गृह्यसूत्र और–

आवसथ्याधानं दारकाले ॥३॥ इत्यादि पारस्कर और–

पुण्ये नक्षत्रे दारान् कुर्वीत ॥४॥

लक्षणप्रशस्तान् कुशलेन ॥५॥ इत्यादि गोभिलीय गृह्यसूत्र और इसी प्रकार शौनक गृह्यसूत्र में भी है ॥

अर्थ–उत्तरायण शुक्लपक्ष अच्छे दिन अर्थात् जिस दिन प्रसन्नता हो, उस दिन विवाह करना चाहिये ॥१॥

और कितने ही आचार्यों का ऐसा मत है कि सब काल में विवाह करना चाहिये ॥२॥

जिस अग्नि का स्थापन विवाह में होता है, उस का 'आवसथ्य' नाम है ॥३॥

प्रसन्नता के दिन स्त्री का पाणिग्रहण, जो कि स्त्री सर्वथा शुभ गुणादि से उत्तम हो, करना चाहिये ॥४-५॥

इस का समय–पृष्ठ ७९-८२ तक में लिखे प्रमाणे जानना चाहिए । वधू और वर का आयु, कुल, वास्तव स्थान, शरीर और स्वभाव की परीक्षा अवश्य करें, अर्थात् दोनों सज्ञान और विवाह की इच्छा करनेवाले हों । स्त्री की आयु से वर की आयु न्यून से न्यून ड्योढ़ी और अधिक से अधिक दूनी होवे । परस्पर कुल की परीक्षा भी करनी चाहिये । इसमें प्रमाण–

---

* यह नक्षत्रादि का विचार कल्पनायुक्त है, इस से प्रमाण नहीं ।

वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम् ।
अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत् ॥१॥
गुरुणानुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि ।
उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम् ॥२॥
असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः ।
सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने ॥३॥
महान्त्यपि समृद्धानि गोऽजाविधनधान्यतः ।
स्त्रीसम्बन्धे दशैतानि कुलानि परिवर्जयेत् ॥४॥
हीनक्रियं निष्पुरुषं निश्छन्दो रोमशार्शसम् ।
क्षय्यामयाव्यपस्मारिश्वित्रिकुष्ठिकुलानि च ॥५॥
नोद्वहेत् कपिलां कन्यां नाधिकाङ्गीं न रोगिणीम् ।
नालोमिकां नातिलोमां न वाचाटां न पिङ्गलाम् ॥६॥
नर्क्षवृक्षनदीनाम्नीं नान्त्यपर्वतनामिकाम् ।
न पक्ष्यहिप्रेष्यनाम्नीं न च भीषणनामिकाम् ॥७॥
अव्यङ्गाङ्गीं सौम्यनाम्नीं हंसवारणगामिनीम् ।
तनुलोमकेशदशनां मृद्वङ्गीमुद्वहेत् स्त्रियम् ॥८॥
ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः ।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥९॥
आच्छाद्य चार्चयित्वा च श्रुतिशीलवते स्वयम् ।
आहूय दानं कन्याया ब्राह्मो धर्मः प्रकीर्तितः ॥१०॥
यज्ञे तु वितते सम्यगृत्विजे कर्म कुर्वते ।
अलङ्कृत्य सुतादानं दैवं धर्मं प्रचक्षते ॥११॥
एकं गोमिथुनं द्वे वा वरादादाय धर्मतः ।
कन्याप्रदानं विधिवदार्षो धर्मः स उच्यते ॥१२॥
सह नौ चरतां धर्ममिति वाचानुभाष्य च ।
कन्याप्रदानमभ्यर्च्य प्राजापत्यो विधिः स्मृतः ॥१३॥
ज्ञातिभ्यो द्रविणं दत्त्वा कन्यायै चैव शक्तितः ।
कन्याप्रदानं विधिवद् आसुरो धर्म उच्यते ॥१४॥
इच्छयाऽन्योन्यसंयोगः कन्यायाश्च वरस्य च ।
गान्धर्वः स तु विज्ञेयो मैथुन्यः कामसम्भवः ॥१५॥

हत्वा छित्त्वा च भित्त्वा च क्रोशन्तीं रुदतीं गृहात् ।
प्रसह्य कन्याहरणं राक्षसो विधिरुच्यते ॥१६॥
सुप्तां मत्तां प्रमत्तां वा रहो यत्रोपगच्छति ।
स पापिष्ठो विवाहानां पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥१७॥
ब्राह्मादिषु विवाहेषु चतुर्ष्वेवानुपूर्वशः ।
ब्रह्मवर्चस्विनः पुत्रा जायन्ते शिष्टसम्मताः ॥१८॥
रूपसत्त्वगुणोपेता धनवन्तो यशस्विनः ।
पर्याप्तभोगा धर्मिष्ठा जीवन्ति च शतं समाः ॥१९॥
इतरेषु तु शिष्टेषु नृशंसानृतवादिनः ।
जायन्ते दुर्विवाहेषु ब्रह्मधर्मद्विषः सुताः ॥२०॥
अनिन्दितैः स्त्रीविवाहैरनिन्द्या भवति प्रजा ।
निन्दितैर्निन्दिता नृणां तस्मान्निन्द्यान् विवर्जयेत् ॥२१॥

अर्थ—ब्रह्मचर्य से ४ चार, ३ तीन, २ दो अथवा १ एक वेद को यथावत् पढ़, अखण्डित ब्रह्मचर्य का पालन करके गृहाश्रम का धारण करे ॥१॥

यथावत् उत्तम रीति से ब्रह्मचर्य और विद्या को ग्रहण कर, गुरु की आज्ञा से स्नान करके ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य अपने वर्ण की उत्तम लक्षणयुक्त स्त्री से विवाह करे ॥२॥

जो स्त्री माता की छः पीढ़ी और पिता के गोत्र की न हो, वही द्विजों के लिए विवाह करने में उत्तम है ॥३॥

विवाह में नीचे लिखे हुए १० दश कुल, चाहे वे गाय आदि पशु, धन और धान्य से कितने ही बड़े हों, उन कुलों की कन्या के साथ विवाह न करे ॥४॥

वे १० दश कुल ये हैं । १ एक—जिस कुल में उत्तम क्रिया न हो । २ दूसरा—जिस कुल में कोई भी उत्तम पुरुष न हो । ३ तीसरा—जिस कुल में कोई विद्वान् न हो । ४ चौथा—जिस कुल में शरीर के ऊपर बड़े-बड़े लोम हों । ५ पांचवां—जिस कुल में बवासीर हो । ६ छठा—जिस कुल में क्षयी (राजयक्ष्मा) रोग हो । ७ सातवां—जिस कुल में अग्निमन्दता से आमाशय रोग हो। ८ आठवां—जिस कुल में मृगी रोग हो । ९ नववां—जिस कुल में श्वेतकुष्ठ हो और १० दसवां—जिस कुल में गलितकुष्ठ आदि रोग हों—उन कुलों की कन्या अथवा उन कुलों के पुरुषों से विवाह कभी न करे ॥५॥

पीले वर्णवाली, अधिक अङ्गवाली जैसी छंगुली आदि, रोगवती (रोगिणी), जिस के शरीर पर कुछ भी लोम न हों, और जिस के शरीर पर बड़े-बड़े लोम हों, व्यर्थ अधिक बोलनेहारी और जिस के पीले बिल्ली के सदृश नेत्र हों ।।६।।

तथा जिस कन्या का (ऋक्ष) नक्षत्र पर नाम अर्थात् रेवती, रोहिणी इत्यादि, **(वृक्ष) चम्पा, चमेली आदि ,** (नदी) जिस का गङ्गा, यमुना इत्यादि, **(अन्त्य) चाण्डाली आदि ,** (पर्वत) जिस का विन्ध्याचला इत्यादि, (पक्षी) पक्षी पर, अर्थात् कोकिला, हंसा इत्यादि, (अहि) अर्थात् उरगा, भोगिनी इत्यादि, (प्रेष्य) दासी इत्यादि और जिस कन्या का (भीषण) कालिका, चण्डिका इत्यादि नाम हो, उस से विवाह न करे ।।७।।

किन्तु जिस के सुन्दर अङ्ग, उत्तम नाम, हंस और हस्तिनी के सदृश चालवाली, जिस के सूक्ष्म लोम, सूक्ष्म केश और सूक्ष्म दांत हों, जिस के सब अङ्ग कोमल हों, उस स्त्री से विवाह करे ।।८।।

ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच, ये विवाह आठ प्रकार के होते हैं ।।९।।

१ पहला–**ब्राह्म**–कन्या के योग्य सुशील, विद्वान् पुरुष का सत्कार करके, कन्या को वस्त्रादि से अलंकृत करके, उत्तम पुरुष को बुला, अर्थात् जिस को कन्या ने प्रसन्न भी किया हो, उस को देना, वह **'ब्राह्म'** विवाह कहाता है ।।१०।।

२ दूसरा–**दैव**–विस्तृत यज्ञ में बड़े-बड़े विद्वानों को वरण कर, उस में कर्म करनेवाले विद्वान् को वस्त्र-आभूषण आदि से कन्या को सुशोभित करके देना, वह **'दैव'** विवाह है ।।११।।

३ तीसरा–**आर्ष**–१ एक गाय, बैल का जोड़ा अथवा २ दो जोड़े* वर से लेके धर्मपूर्वक कन्यादान करना, वह **'आर्ष'** विवाह है ।।१२।।

और ४ चौथा–**प्राजापत्य**–कन्या और वर को यज्ञशाला में विधि करके सब के सामने तुम दोनों मिलके गृहाश्रम के कर्मों को यथावत् करो, ऐसा कहकर दोनों की प्रसन्नतापूर्वक पाणिग्रहण होना, वह **'प्राजापत्य'** विवाह कहाता है । ये ४ चार विवाह उत्तम हैं ।।१३।।

और ५ पांचवाँ–वर की जातिवालों और कन्या को यथाशक्ति धन

---

* यह बात मिथ्या है, क्योंकि आगे मनुस्मृति में निषेध किया है और युक्तिविरुद्ध भी है । इसलिये कुछ भी न ले-देकर दोनों की प्रसन्नता से पाणिग्रहण होना 'आर्ष' विवाह है ।

देकर होम आदि विधि कर कन्या देना, **'आसुर'** विवाह कहाता है ।।१४।।

६ छठा—वर और कन्या की इच्छा से दोनों का संयोग होना और अपने मन में मान लेना कि हम दोनों स्त्री-पुरुष हैं, यह काम से हुआ **'गान्धर्व'** विवाह कहाता है ।।१५।।

और ७ सातवाँ—हनन, छेदन अर्थात् कन्या के रोकनेवालों का विदारण कर क्रोशती, रोती, कंपती और भयभीत हुई कन्या को बलात्कार हरण करके विवाह करना, वह **'राक्षस'** विवाह है ।।१६।।

और [८ आठवाँ]—जो सोती, पागल हुई वा नशा पीकर उन्मत्त हुई कन्या को एकान्त पाकर दूषित कर देना, यह सब विवाहों में नीच से नीच महानीच, दुष्ट, अतिदुष्ट **'पैशाच'** विवाह है ।।१७।।

ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्राजापत्य इन चार विवाहों में पाणिग्रहण किये हुए स्त्री-पुरुषों से जो सन्तान उत्पन्न होते हैं, वे वेदादिविद्या से तेजस्वी, आप्त पुरुषों के सम्मत, अत्युत्तम होते हैं ।।१८।।

वे पुत्र वा कन्या सुन्दर रूप, बल, पराक्रम, शुद्ध, बुद्ध्यादि, उत्तम गुणयुक्त, बहु धनयुक्त, पुण्यकीर्तिमान् और पूर्ण भोग के भोक्ता, अतिशय धर्मात्मा होकर १०० वर्ष तक जीते हैं ।।१९।।

इन ४ चार विवाहों से जो बाकी रहे ४ चार आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच, इन ४ चार दुष्ट विवाहों से उत्पन्न हुए सन्तान निन्दित कर्मकर्त्ता, मिथ्यावादी, वेदधर्म के द्वेषी, बड़े नीच स्वभाववाले होते हैं ।।२०।।

इसलिये मनुष्यों को योग्य है कि जिन निन्दित विवाहों से नीच प्रजा होती हैं, उन का त्याग और जिन उत्तम विवाहों से उत्तम प्रजा होती हैं, उन को किया करें ।।२१।।

उत्कृष्टायाभिरूपाय वराय सदृशाय च ।
अप्राप्तामपि तां तस्मै कन्यां दद्याद्विचक्षणः ।।१।।
काममामरणात् तिष्ठेद् गृहे कन्यर्तुमत्यपि ।
न चैवैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित् ।।२।।
त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्यृतुमती सती ।
ऊर्ध्वं तु कालादेतस्माद् विन्देत सदृशं पतिम् ।।३।।

अर्थ—यदि माता-पिता कन्या का विवाह करना चाहें तो अति उत्कृष्ट शुभगुण, कर्म, स्वभाववाला, कन्या के सदृश रूपलावण्यादि गुणयुक्त वर ही को, **चाहे वह कन्या-माता की छह पीढ़ी के भीतर भी हो, तथापि उसी को कन्या देना, अन्य को कभी न देना कि जिस** से दोनों अति प्रसन्न होकर गृहाश्रम की उन्नति और उत्तम सन्तानों

की उत्पत्ति करें ॥१॥

चाहे मरण–पर्यन्त कन्या पिता के घर में विना विवाह के बैठी भी रहे, परन्तु गुणहीन असदृश, दुष्ट पुरुष के साथ कन्या का विवाह कभी न करे और वर–कन्या भी अपने आप स्वसदृश के साथ ही विवाह करें ॥२॥

जब कन्या विवाह करने की इच्छा करे, तब रजस्वला होने के दिन से ३ तीन वर्ष को छोड़के ४ चौथे वर्ष में विवाह करे॥३॥

प्रश्न–'अष्टवर्षा भवेद् गौरी नववर्षा च रोहिणी।' इत्यादि श्लोकों की क्या गति होगी ?

उत्तर–इन श्लोकों और इन के माननेवालों की दुर्गति, अर्थात् जो इन श्लोकों की रीति से बाल्यावस्था में अपने सन्तानों का विवाह कर–करा, उन को नष्ट–भ्रष्ट रोगी अल्पायु करते हैं, वे अपने कुल का जानो सत्यानाश कर रहे हैं । इसलिए यदि शीघ्र विवाह करें तो वेदारम्भ में लिखे हुए १६ सोलह वर्ष से न्यून कन्या और २५ पच्चीस वर्ष से न्यून पुरुष का विवाह कभी न करें–करावें । इस के आगे जितना अधिक ब्रह्मचर्य रक्खेंगे, उतना ही उन को आनन्द अधिक होगा ।

प्रश्न–विवाह निकटवासियों से अथवा दूरवासियों से करना चाहिये?

उत्तर–'दुहिता दुर्हिता दूरे हिता भवतीति ।' यह निरुक्त का प्रमाण है कि–जितना दूरदेश में विवाह होगा, उतना ही उन्हें अधिक लाभ होगा ।

प्रश्न–अपने गोत्र वा भाई–बहिनों का परस्पर विवाह क्यों नहीं होता ?

उत्तर–एक–दोष यह है कि इन के विवाह होने में प्रीति कभी नहीं होती, क्योंकि जितनी प्रीति परोक्ष पदार्थ में होती है, उतनी प्रत्यक्ष में नहीं और बाल्यावस्था के गुण–दोष भी विदित रहते हैं तथा भयादि भी अधिक नहीं रहते । दूसरा–जब तक दूरस्थ एक–दूसरे कुल के साथ सम्बन्ध नहीं होता, तब तक शरीर आदि की पुष्टि भी पूर्ण नहीं होती । तीसरा–दूर सम्बन्ध होने से परस्पर प्रीति, उन्नति, ऐश्वर्य बढ़ता है, निकट से नहीं ।

युवावस्था ही में विवाह का प्रमाण–

तमस्मेरा युवतयो युवानं मर्मृज्यमानाः परि यन्त्यापः ।
स शुक्रेभिः शिक्वभी रेवदस्मे दीदायानिध्मो घृतनिर्णिगप्सु ॥१॥
अस्मै तिस्रो अव्यथ्याय नारीर्देवाय देवीर्दिधिषन्त्यन्नम् ।
कृता इवोप हि प्रसर्स्रे अप्सु स पीयूषं धयति पूर्वसूनाम् ॥२॥

अश्वस्यात्र जनिमास्य च स्वर्द्रुहो रिषः सम्पृचः पाहि सूरीन् ।
आमासु पूर्षु परो अप्रमृष्यं नारातयो वि नशन्नानृतानि ॥३॥

—ऋ०मं० २। सू० ३५ । मं० ४-६॥

वधूरियं पतिमिच्छन्त्येति य ईं वहाते महिषीमिषिराम् ।
आस्य श्रवस्याद् रथ आ च घोषात् पुरू सहस्रा परि वर्तयाते ॥४॥

—ऋ०मं० ५। सू० ३७ । मं० ३॥

उप व एषे वन्द्येभिः शूषैः प्र यह्वी दिवश्चितयद्भिरर्कैः ।
उषासानक्ता विदुषीव विश्वमा हा वहतो मर्त्याय यज्ञम् ॥५॥

—ऋ०मं० ५। सू० ४१ । मं० ७॥

अर्थ—जो (मर्मृज्यमानाः) उत्तम ब्रह्मचर्यव्रत और सद्विद्याओं से अत्यन्त (युवतयः) बीसवें वर्ष से चौबीसवें वर्षवाली हैं, वे कन्या लोग जैसे (आपः) जल वा नदी समुद्र को प्राप्त होती हैं, वैसे (अस्मेराः) हम को प्राप्त होनेवाली, अपने-अपने प्रसन्न, अपने-अपने से डेढ़े वा दूने आयुवाले, (तम्) उस ब्रह्मचर्य और विद्या से परिपूर्ण, शुभलक्षणयुक्त (युवानम्) जवान पति को (परियन्ति) अच्छे प्रकार प्राप्त होती हैं। (सः) वह ब्रह्मचारी (शुक्रेभिः) शुद्ध गुण और (शिक्वभिः) वीर्यादि से युक्त होके (अस्मे) हमारे मध्य में (रेवत्) अत्यन्त श्रीयुक्त कर्म को, और (दीदाय) अपने तुल्य युवती स्त्री को प्राप्त होवे। जैसे (अप्सु) अन्तरिक्ष वा समुद्र में (घृतनिर्णिक्) जल को शोधन करनेहारा (अनिध्मः) आप प्रकाशित विद्युत् अग्नि है, इसी प्रकार स्त्री और पुरुष के हृदय में प्रेम बाहर अप्रकाशमान भीतर सुप्रकाशित रहकर उत्तम सन्तान और अत्यन्त आनन्द को गृहाश्रम में दोनों स्त्री-पुरुष प्राप्त होवें ॥१॥

हे स्त्री-पुरुषो ! जैसे (तिस्रः) उत्तम मध्यम तथा निकृष्ट स्वभावयुक्त, (देवीः नारीः) विद्वान् नरों की विदुषी स्त्रियां (अस्मै) इस (अव्यथ्याय) पीड़ा से रहित (देवाय) काम के लिये (अन्नम्) अन्नादि उत्तम पदार्थों को (दिधिषन्ति) धारण करती हैं, (कृता इव) की हुई शिक्षायुक्त के समान (अप्सु) प्राणवत् प्रीति आदि व्यवहारों में प्रवृत्त होने के लिये स्त्री से पुरुष और पुरुष से स्त्री (उप प्रसर्स्रे) सम्बन्ध को प्राप्त होती है, (सः हि) वही पुरुष और स्त्री आनन्द को प्राप्त होती है। जैसे जलों में (पीयूषम्) अमृतरूप रस को (पूर्वसूनाम्) प्रथम प्रसूत हुई स्त्रियों का बालक (धयति) दुग्ध पीके बढ़ता है, वैसे इन ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी स्त्री के सन्तान यथावत् बढ़ते हैं ॥२॥

जैसे राजादि सब लोग (पूर्षु) अपने नगरों और (आमासु) अपने घर में उत्पन्न हुए पुत्र और कन्यारूप प्रजाओं में उत्तम शिक्षाओं को (परः) उत्तम विद्वान् (अप्रमृष्यम्) शत्रुओं को सहने के अयोग्य, ब्रह्मचर्य से प्राप्त हुए शरीरात्मबलयुक्त देह को (अरातयः) शत्रु लोग (न) नहीं (विनशन्) विनाश कर सकते, और (अनृतानि) मिथ्याभाषणादि दुष्ट दुर्व्यसनों को प्राप्त (न) नहीं होते, वैसे उत्तम स्त्री-पुरुषों को (द्रुहः) द्रोह आदि दुर्गुण और (रिषः) हिंसा आदि पाप (न सम्पृचः) सम्बन्ध नहीं करते। किन्तु जो युवावस्था में विवाह कर प्रसन्नतापूर्वक विधि से सन्तानोत्पत्ति करते हैं, इनके (अस्य) इस (अश्वस्य) महान् गृहाश्रम के मध्य में उत्तम बालकों का (जनिम) जन्म होता है। इसलिये हे स्त्रि वा पुरुष! तू (सूरीन्) विद्वानों की (पाहि) रक्षा कर। (च) और ऐसे गृहस्थों को (अत्र) इस गृहाश्रम में सदैव (स्वः) सुख बढ़ता रहता है ॥३॥

हे मनुष्यो! (यः) जो पूर्वोक्त लक्षणयुक्त पूर्ण जवान (ईम्) सब प्रकार की परीक्षा करके (महिषीम्) उत्तम कुल में उत्पन्न हुई विद्या शुभ गुणरूप सुशीलतादियुक्त (इषिराम्) वर की इच्छा करनेहारी, हृदय को प्रिय स्त्री को (एति) प्राप्त होता है, और जो (पतिम्) विवाह से अपने स्वामी की (इच्छन्ती) इच्छा करती हुई, (इयम्) यह (वधूः) स्त्री अपने सदृश, हृदय को प्रिय पति को (एति) प्राप्त होती है। वह पुरुष वा स्त्री (अस्य) इस गृहाश्रम के मध्य (आश्रवस्यात्) अत्यन्त विद्या धन धान्य युक्त सब ओर से होवे। और वे दोनों (रथः) रथ के समान (आघोषात्) परस्पर प्रिय वचन बोलें। (च) और सब गृहाश्रम के भार को (वहाते) उठा सकते हैं। तथा वे दोनों (पुरु) बहुत (सहस्रा) असङ्ख्य उत्तम कार्यों को (परिवर्तयाते) सब ओर से सिद्ध कर सकते हैं ॥४॥

हे मनुष्यो! यदि तुम पूर्ण ब्रह्मचर्य से सुशिक्षित विद्यायुक्त अपने सन्तानों को कराके स्वयंवर विवाह कराओ, तो वे (वन्द्येभिः) कामना के योग्य (चितयद्भिः) सब सत्य विद्याओं को जनानेहारे, (अर्कैः) सत्कार के योग्य, (शूषैः) शरीरात्मबलों से युक्त होके (वः) तुम्हारे लिये (एषे) सब सुख प्राप्त कराने को समर्थ होवें। और वे (उषासानक्ता) जैसे दिन और रात तथा जैसे (विदुषीव) विदुषी स्त्री और विद्वान् पुरुष (विश्वम्) गृहाश्रम के सम्पूर्ण व्यवहार को (आवहतः) सब ओर से प्राप्त होते हैं, (ह) वैसे ही इस (यज्ञम्) सङ्गतरूप गृहाश्रम के व्यवहार को वे स्त्री-पुरुष पूर्ण कर सकते हैं। और (मर्त्याय) मनुष्यों के लिये यही पूर्वोक्त विवाह पूर्ण सुखदायक है। और (यह्वी) बड़े ही शुभ गुण, कर्म, स्वभाववाले स्त्री-पुरुष दोनों (दिवः) कामनाओं

को (उप प्र वहतः) अच्छे प्रकार प्राप्त हो सकते हैं, अन्य नहीं ।।५।।

जैसे ब्रह्मचर्य में कन्या का ब्रह्मचर्य वेदोक्त है, वैसे ही सब पुरुषों को ब्रह्मचर्य से विद्या पढ़ पूर्ण जवान हो परस्पर परीक्षा करके, जिस से जिस की विवाह करने में पूर्ण प्रीति हो, उसी से उस का विवाह होना अत्युत्तम है । **जो कोई युवावस्था में विवाह न कराके बाल्यावस्था में अनिच्छित अयोग्य वर कन्या का विवाह करावेंगे, वे वेदोक्त ईश्वराज्ञा के विरोधी होकर महादुःखसागर में क्योंकर न डूबेंगे ?** और जो पूर्वोक्त विधि से विवाह करते-कराते हैं, **वे ईश्वराज्ञा के अनुकूल होने से पूर्ण सुख को प्राप्त होते हैं ।**

प्रश्न—विवाह अपने-अपने वर्ण में होना चाहिये, वा अन्य वर्ण में भी ?

उत्तर—अपने-अपने वर्ण में । परन्तु वर्णव्यवस्था गुण, कर्मों के अनुसार होनी चाहिये, जन्ममात्र से नहीं ।

जो पूर्ण विद्वान् धर्मात्मा परोपकारी जितेन्द्रिय मिथ्याभाषणादि दोषरहित, विद्या और धर्मप्रचार में तत्पर रहे, इत्यादि उत्तम गुण जिस में हों, वह ब्राह्मण-ब्राह्मणी । विद्या, बल, शौर्य, न्यायकारित्वादि गुण जिस में हों, वह क्षत्रिय-क्षत्रिया और विद्वान् होके कृषि पशु-पालन व्यापार देशभाषाओं में चतुरतादि गुण जिस में हों, वह वैश्य-वैश्या और जो विद्याहीन मूर्ख हो, वह शूद्र-शूद्रा कहावे । इसी क्रम से विवाह होना चाहिए, अर्थात् ब्राह्मण का ब्राह्मणी, क्षत्रिय का क्षत्रिया, वैश्य का वैश्या, और शूद्र का शूद्रा के साथ ही विवाह होने में आनन्द होता है, अन्यथा नहीं ।

इस वर्णव्यवस्था में प्रमाण—

धर्मचर्यया जघन्यो वर्णः पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ ।।१।।
अधर्मचर्यया पूर्वो वर्णो जघन्यं जघन्यं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ।।२।।

—आपस्तम्बे ।।

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम् ।
क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च ।।३।। —मनुस्मृतौ।।

अर्थ—धर्माचरण से नीच वर्ण उत्तम-उत्तम वर्ण को प्राप्त होता है । और उस वर्ण में जो-जो कर्त्तव्य अधिकाररूप कर्म हैं, वे सब गुण, कर्म उस पुरुष और स्त्री को प्राप्त होवें ।।१।। वैसे ही अधर्माचरण से उत्तम-उत्तम वर्ण नीचे-नीचे के वर्ण को प्राप्त होवें । और वे ही उस-उस वर्ण के अधिकार और कर्मों के कर्त्ता होवें ।।२।। उत्तम गुण, कर्म, स्वभाव से जो शूद्र है, वह वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण तथा क्षत्रिय, ब्राह्मण वर्ण के अधिकार और कर्मों को प्राप्त होता है । वैसे ही नीच

कर्म और गुणों से जो ब्राह्मण है, वह क्षत्रिय वैश्य शूद्र; और क्षत्रिय वैश्य शूद्र तथा वैश्य शूद्र वर्ण के अधिकार और कर्मों को प्राप्त होता है ।।३।।

इसी प्रकार वर्णव्यवस्था होने से पक्षपात न होकर सब वर्ण उत्तम बने रहते, और उत्तम बनने में प्रयत्न करते । और उत्तम वर्ण भय से कि मैं नीच वर्ण न हो जाऊं, इसलिये बुरे कर्म छोड़ उत्तम कर्मों ही को किया करते हैं । इस से संसार की बड़ी उन्नति है । आर्यावर्त्त देश में जब तक ऐसी वर्णव्यवस्था, पूर्वोक्त ब्रह्मचर्य विद्याग्रहण उत्तमता से स्वयंवर विवाह होता था, तभी देश की उन्नति थी । अब भी ऐसा ही होना चाहिये, जिस से आर्यावर्त्त देश अपनी पूर्वावस्था को प्राप्त होकर आनन्दित होवे ।

अब वधू-वर एक-दूसरे के गुण, कर्म और स्वभाव की परीक्षा इस प्रकार करें–

दोनों का तुल्य शील, समान बुद्धि, समान आचार, समान रूपादि गुण, अहिंसकता, सत्य मधुरभाषण, कृतज्ञता, दयालुता, अहङ्कार, मत्सर, ईर्ष्या, काम, क्रोध, निर्लोभता, देश का सुधार, विद्याग्रहण, सत्योपदेश करने में निर्भयता, उत्साह; कपट, द्यूत, चोरी, मद्य-मांसाहारादि दोषों का त्याग, गृह कामों में अतिचतुरता हो ।

जब-जब प्रातःसायं वा परदेश से आकर मिलें, तब-तब 'नमस्ते' इस वाक्य से परस्पर नमस्कार कर, स्त्री पति के चरणस्पर्श, पादप्रक्षालन, आसनदान करे । तथा दोनों परस्पर प्रेम बढ़ानेहारे वचनादि व्यवहारों से वर्त्तकर आनन्द भोगें । वर के शरीर से स्त्री का शरीर पतला और पुरुष के स्कन्धे के तुल्य स्त्री का शिर होना चाहिये । तत्पश्चात् भीतर की परीक्षा स्त्री-पुरुष वचनादि-व्यवहारों से करें ।

ओम् ऋतमग्रे प्रथमं जज्ञ ऋते सत्यं प्रतिष्ठितम् ।
यदियं कुमार्य्यभिजाता तदियमिह प्रतिपद्यताम् ।
यत्सत्यं तद् दृश्यताम् ।।

अर्थ–जब विवाह करने का समय निश्चय हो चुके, तब कन्या चतुर पुरुषों से वर की, और वर चतुर स्त्रियों से कन्या की परोक्ष में परीक्षा करावे। पश्चात् उत्तम विद्वान् स्त्री-पुरुषों की सभा करके दोनों परस्पर संवाद करें कि–'हे स्त्री वा हे पुरुष ! **इस जगत् के पूर्व ऋत=यथार्थस्वरूप महत्तत्व उत्पन्न हुआ था** और उस महत्तत्व में सत्य, त्रिगुणात्मक, नाशरहित प्रकृति प्रतिष्ठित है । जैसे पुरुष और प्रकृति के योग से विश्व उत्पन्न हुआ है, वैसे मैं कुमारी और मैं कुमार पुरुष इस समय दोनों विवाह

करने की सत्य प्रतिज्ञा करती वा करता हूँ । उस को यह कन्या और मैं वर प्राप्त होवें और अपनी प्रतिज्ञा को सत्य करने के लिए दृढोत्साही रहें ।।''

विधि—जब कन्या रजस्वला होकर पृष्ठ २७-२८ में लिखे प्रमाणे शुद्ध हो जाय, तब जिस दिन गर्भाधान की रात्रि निश्चित की हो, उस रात्रि में विवाह करने के लिए प्रथम ही सब सामग्री जोड़ रखनी चाहिए और पृष्ठ १२-१७ में लिखे प्रमाणे यज्ञशाला, वेदी, ऋत्विक्, यज्ञपात्र, शाकल्य आदि सब सामग्री शुद्ध करके रखनी उचित है । पश्चात्* एक घण्टेमात्र रात्रि जाने पर—

ओं काम वेद ते नाम मदो नामासि समानयामुꣳ सुरा ते अभवत्। परमत्र जन्माग्ने तपसो निर्मितोऽसि स्वाहा ।।१।।

ओम् इमं त उपस्थं मधुना सꣳसृजामि प्रजापतेर्मुखमेतत् द्वितीयम्। तेन पुंꣳसोभिभवासि सर्वानवशान्वशिन्यसि राज्ञि स्वाहा ।।२।।

ओम् अग्निं क्रव्यादमकृण्वन् गुहानाः स्त्रीणामुपस्थमृषयः पुराणाः। तेनाज्यमकृण्वꣳस्त्रैशृङ्गं त्वाष्ट्रं त्वयि तद्दधातु स्वाहा ।।३।।

इन मन्त्रों से सुगन्धित शुद्ध जल से पूर्ण कलशों को लेके वधू और वर स्नान कर, पश्चात् वधू उत्तम वस्त्रालङ्कार धारण करके उत्तम आसन पर पूर्वाभिमुख बैठे। तत्पश्चात् पृष्ठ ४ से ११ तक लिखे प्रमाणे ईश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासना, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण करें । तत्पश्चात् पृष्ठ १८-१९ में लिखे प्रमाणे अग्न्याधान समिदाधान, पृष्ठ १३ में लिखे प्रमाणे स्थालीपाक आदि यथोक्त कर वेदी के समीप रखे । वैसे ही वर भी एकान्त अपने घर में जाके उत्तम वस्त्रालङ्कार [धारण] करके यज्ञशाला में आ उत्तमासन पर पूर्वाभिमुख बैठके पृष्ठ ४-११ में लिखे प्रमाणे **ईश्वरस्तुति-प्रार्थनोपासना कर वधू के घर को जाने का ढंग करे। तत्पश्चात् कन्या के और वर पक्ष के पुरुष बड़े सम्मान से वर को घर ले जावें । जिस समय वर वधू के घर में प्रवेश करे, उसी समय वधू और कार्यकर्त्ता मधुपर्क आदि से वर का निम्नलिखित प्रकार से आदर-सत्कार करें—

उस की रीति यह है कि वर वधू के घर में प्रवेश करके पूर्वाभिमुख खड़ा रहे और वधू तथा कार्यकर्त्ता वर के समीप उत्तराभिमुख खड़े रहके,

वधू और कार्यकर्त्ता—

---

* यदि आधी रात तक विधि पूरा न हो सके तो मध्याह्नोत्तर आरम्भ कर देवें कि जिस से मध्य रात्रि तक विवाहविधि पूरा हो जावे ।

** विवाह में आये हुए भी स्त्रीपुरुष एकाग्रचित्त, ध्यानावस्थित होके इन तीन कर्मों के अनुसार ईश्वर का चिन्तन किया करें ।

ओं साधु भवानास्तामर्चयिष्यामो भवन्तम् ॥

इस वाक्य को बोलें । उस पर **वर–**

ओम् अर्चय ॥

ऐसा प्रत्युत्तर देवे ।

पुनः जो वधू और कार्यकर्त्ता ने वर के लिये उत्तम आसन सिद्ध कर रखा हो, उस को **वधू हाथ में ले** वर के आगे खड़ी रहके–

ओं विष्टरो विष्टरो विष्टरः प्रतिगृह्यताम् ॥

यह उत्तम आसन है, आप ग्रहण कीजिये । वर–

ओं प्रतिगृह्णामि ॥

इस वाक्य को बोलके वधू के हाथ से आसन ले, बिछा उस पर सभामण्डप में पूर्वाभिमुख बैठके, वर–

ओं वर्ष्मोऽस्मि समानानामुद्यतामिव सूर्यः ।
इमं तमभितिष्ठामि यो मा कश्चाभिदासति ॥

इस मन्त्र को बोले ।

तत्पश्चात् कार्यकर्त्ता एक सुन्दर पात्र में पूर्ण जल भरके कन्या के हाथ में देवे और **कन्या–**

ओं पाद्यं पाद्यं पाद्यं प्रतिगृह्यताम् ॥

इस वाक्य को बोलके वर के आगे धरे । पुनः **वर–**

ओं प्रतिगृह्णामि ॥

इस वाक्य को बोलके कन्या के हाथ से उदक ले पग-प्रक्षालन* करे और उस समय–

ओं विराजो दोहोऽसि विराजो दोहमशीय मयि पाद्यायै विराजो दोहः ॥

इस मन्त्र को बोले ।

तत्पश्चात् फिर भी कार्यकर्त्ता दूसरा शुद्ध लोटा पवित्र जल से भर कन्या के हाथ में देवे । पुनः **कन्या–**

ओम् अर्घोऽर्घोऽर्घः प्रतिगृह्यताम् ॥

इस वाक्य को बोलके वर के हाथ में देवे । और **वर–**

---

* यदि घर का प्रवेशक द्वार पूर्वाभिमुख हो तो वर उत्तराभिमुख और वधू तथा कार्यकर्त्ता पूर्वाभिमुख खड़े रहके, यदि ब्राह्मण वर्ण हो तो प्रथम दक्षिण पग पश्चात् बायां, और अन्य क्षत्रियादि वर्ण हो तो प्रथम बायाँ पग धोवे, पश्चात् दाहिना ।

ओं प्रतिगृह्णामि ॥

इस वाक्य को बोलके कन्या के हाथ से जलपात्र लेके, उस से मुखप्रक्षालन करे और उसी समय **वर** मुख धोके–

ओम् आप स्थ युष्माभिः सर्वान् कामानवाप्नवानि ॥

ओं समुद्रं वः प्रहिणोमि स्वां योनिमभिगच्छत ।

अरिष्टा अस्माकं वीरा मा परासेचि मत्पयः ॥

इन मन्त्रों को बोले । तत्पश्चात् वेदी के पश्चिम बिछाये हुए उसी शुभासन पर पूर्वाभिमुख बैठे ।

तत्पश्चात् कार्यकर्त्ता एक सुन्दर उपपात्र जल से पूर्ण भर, उस में आचमनी रख, कन्या के हाथ में देवे । और उस समय **कन्या–**

ओम् आचमनीयमाचमनीयमाचमनीयं प्रतिगृह्यताम् ॥

इस वाक्य को बोलके वर के सामने करे । और **वर–**

ओं प्रतिगृह्णामि ॥

इस वाक्य को बोलके कन्या के हाथ में से जलपात्र को ले सामने धर, उस में से दहिने हाथ में जल, जितना अंगुलियों के मूल तक पहुंचे उतना लेके, वर–

ओम् आ मागन् यशसा सꣳसृज वर्चसा ।

तं मा कुरु प्रियं प्रजानामधिपतिं पशूनामरिष्टिं तनूनाम् ॥

इस मन्त्र से एक आचमन । इसी प्रकार **दूसरी और तीसरी वार इसी मन्त्र को पढ़के दूसरा और तीसरा आचमन करे ।**

तत्पश्चात् कार्यकर्त्ता मधुपर्क* का पात्र कन्या के हाथ में देवे और **कन्या–**

ओं मधुपर्को मधुपर्को मधुपर्कः प्रतिगृह्यताम् ॥

ऐसी विनति वर से करे और **वर–**

ओं प्रतिगृह्णामि ॥

इस वाक्य को बोलके कन्या के हाथ से ले और उस समय–

ओं मित्रस्यं त्वा चक्षुषा प्रतीक्षे ॥

इस मन्त्रस्थ वाक्य को बोलके मधुपर्क को **अपनी दृष्टि से देखे** और–

---

* मधुपर्क उस को कहते हैं–जो दही में घी वा शहद मिलाया जाता है । उस का परिमाण–१२ बारह तोले दही में ४ चार तोले शहद अथवा ४ चार तोले घी मिलाना चाहिए, और यह मधुपर्क कांसे के पात्र में होना उचित है ।

ओं देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां प्रति गृह्णामि ॥

इस मन्त्र को बोलके मधुपर्क के पात्र को **वाम हाथ में लेवे** और–

ओं भूर्भुवः स्वः । मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः। माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः ॥१॥

ओं भूर्भुवः स्वः । मधु नक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिवꣳ रजः । मधु द्यौरस्तु नः पिता ॥२॥

ओं भूर्भुवः स्वः । मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ अस्तु सूर्यः । माध्वीर्गावो भवन्तु नः ॥३॥

इन ३ तीन मन्त्रों से **मधुपर्क की ओर अवलोकन करे ।**

ओं नमः श्यावास्यायान्नशने यत्त आविद्धं तत्ते निष्कृन्तामि॥

इस मन्त्र को पढ़, दहिने हाथ की **अनामिका और अङ्गुष्ठ** से मधुपर्क को **तीन वार बिलोवे** और उस मधुपर्क में से वर–

ओं वसवस्त्वा गायत्रेण च्छन्दसा भक्षयन्तु ॥

इस मन्त्र से **पूर्व दिशा** ।

ओं रुद्रास्त्वा त्रैष्टुभेन च्छन्दसा भक्षयन्तु ॥

इस मन्त्र से **दक्षिण दिशा** ।

ओम् आदित्यास्त्वा जागतेन च्छन्दसा भक्षयन्तु ॥

इस मन्त्र से **पश्चिम दिशा**, और

ओं विश्वे त्वा देवा आनुष्टुभेन च्छन्दसा भक्षयन्तु ॥

इस मन्त्र से **उत्तर दिशा** में थोड़ा-थोड़ा छोड़े, अर्थात् छींटे देवे।

ओं भूतेभ्यस्त्वा परिगृह्णामि ॥

इस मन्त्रस्थ वाक्य को बोलके पात्र के मध्य भाग में से लेके **ऊपर की ओर तीन वार फेंकना** । तत्पश्चात् **उस मधुपर्क के तीन भाग करके तीन कांसे के पात्रों में धर, भूमि में अपने सम्मुख तीनों पात्र रखे** । रखके–

ओं यन्मधुनो मधव्यं परमꣳ रूपमन्नाद्यम् । तेनाहं मधुनो मधव्येन परमेण रूपेणान्नाद्येन परमो मधव्योऽन्नादोऽसानि ॥

इस मन्त्र को एक-एक वार बोलके **एक-एक भाग में से वर थोड़ा-थोड़ा प्राशन करे वा सब प्राशन करे ।** जो उन पात्रों में शेष उच्छिष्ट मधुपर्क रहा हो, वह किसी **अपने सेवक को देवे वा जल**

में डाल देवे । तत्पश्चात्–

ओम् अमृतापिधानमसि स्वाहा ॥

ओं सत्यं यशः श्रीर्मयि श्रीः श्रयतां स्वाहा ॥

इन **दो मन्त्रों से दो आचमन,** अर्थात् एक से एक और दूसरे से दूसरा **वर करे** । तत्पश्चात् **वर** पृष्ठ १८ में लिखे प्रमाणे चक्षुरादि इन्द्रियों का जल से स्पर्श करे । पश्चात् **कन्या–**

ओं गौर्गौर्गौः प्रतिगृह्यताम् ॥

इस वाक्य से वर की विनति करके अपनी शक्ति के योग्य वर को **गोदानादि द्रव्य, जो कि वर के योग्य हो, अर्पण करे** । और **वर**–

ओं प्रतिगृह्णामि ॥

इस वाक्य से उस को ग्रहण करे । इस प्रकार मधुपर्क विधि यथावत् करके, वधू और कार्यकर्त्ता वर को **सभामण्डपस्थान* से घर में ले जाके शुभ आसन पर पूर्वाभिमुख बैठाके, वर के सामने पश्चिमाभिमुख वधू को बैठावे । और कार्यकर्त्ता उत्तराभिमुख बैठके–**

ओम् अमुक[1] गोत्रोत्पन्नामिमाममुकनाम्नीम्[2] अलङ्कृतां कन्यां प्रतिगृह्णातु भवान् ॥

इस प्रकार बोलके **वर का हाथ चत्ता** अर्थात् हथेली ऊपर रखके, **उसके हाथ में वधू का दक्षिण हाथ चत्ता ही रखना,** और **वर**–

ओं प्रतिगृह्णामि ॥ ऐसा बोलके–

ओं जरां गच्छ परिधत्स्व वासो भवा कृष्टीनामभिशस्तिपावा।

शतं च जीव शरदः सुवर्चा रयिं च पुत्राननुसंव्ययस्वायुष्मतीदं परिधत्स्व वासः ॥

इस मन्त्र को बोलके **वधू को उत्तम वस्त्र** देवे । तत्पश्चात्–

ओं या अकृन्तन्नवयन् या अतन्वत याश्च देवीस्तन्तूनभितो ततन्थ । तास्त्वा देवीर्जरसे संव्ययस्वायुष्मतीदं परिधत्स्व वासः॥

इस मन्त्र को बोलके **वधू को वर उपवस्त्र** देवे और उन वस्त्रों को वधू ले के दूसरे घर में एकान्त में जा उन्हीं वस्त्रों को धारण कर और **उपवस्त्र को यज्ञोपवीतवत् धारण करे** ।

---

* यदि सभामण्डप स्थापन न किया हो तो जिस घर में मधुपर्क हुआ हो उस से दूसरे घर में वर को ले जावे ।

१. अमुक इस पद के स्थान में जिस गोत्र और कुल में वधू उत्पन्न हुई हो उस का उच्चारण अर्थात् उस का नाम लेना ।

२. ''अमुकनाम्नीम्'' इस स्थान पर वधू का नाम द्वितीया विभक्ति के एकवचन से बोलना ।

ओं परिधास्यै यशोधास्यै दीर्घायुत्वाय जरदष्टिरस्मि ।
शतं च जीवामि शरदः पुरूची रायस्पोषमभिसंव्ययिष्ये ॥
इस मन्त्र को पढ़के **वर आप अधोवस्त्र धारण करे** । और–
ओं यशसा मा द्यावापृथिवी यशसेन्द्राबृहस्पती ।
यशो भगश्च मा विदद्यशो मा प्रतिपद्यताम् ॥
इस मन्त्र को पढ़के **द्विपट्टा (दुपट्टा) धारण करे** ।

इस प्रकार वधू वस्त्र–परिधान करके जब तक संभले, तब तक **कार्यकर्त्ता अथवा दूसरा कोई** यज्ञमण्डप में जा कुण्ड के समीपस्थ हो पृष्ठ १९ में लिखे प्रमाणे इन्धन और कर्पूर वा घृत से कुण्ड के अग्नि को प्रदीप्त करे और आहुति के लिए सुगन्ध डाला हुआ घी बटलोई में करके कुण्ड के अग्नि पर गरम कर, कांसे के पात्र में रक्खे और स्रुवादि होम के पात्र तथा जलपात्र इत्यादि सामग्री यज्ञकुण्ड के समीप जोड़कर रक्खे ।

और **वरपक्ष का एक पुरुष** शुद्ध वस्त्र धारण कर, शुद्ध जल से पूर्ण एक कलश को लेके **यज्ञकुण्ड की परिक्रमा कर** कुण्ड के **दक्षिण भाग में** उत्तराभिमुख हो **कलशस्थापन,** अर्थात् भूमि पर अच्छे प्रकार अपने आगे धरके, जब तक विवाह का कृत्य पूरण न हो जाय, तब तक **उत्तराभिमुख बैठा रहे** ।

और उसी प्रकार **वर के पक्ष का दूसरा पुरुष हाथ में दण्ड लेके कुण्ड के दक्षिणभाग में कार्य–समाप्ति पर्यन्त उत्तराभिमुख बैठा रहे ।**

और इसी प्रकार **सहोदर वधू का भाई** अथवा सहोदर न हो तो **चचेरा भाई, मामा का पुत्र** अथवा **मौसी का लड़का** हो, वह **चावल वा जुआर की धाणी** और **शमी वृक्ष के सूखे पत्ते** इन दोनों को मिला कर **शमीपत्रयुक्त धाणी की ४ चार अञ्जलि** एक शुद्ध सूप में रखके, धाणीसहित सूप लेके **यज्ञकुण्ड के पश्चिमभाग में पूर्वाभिमुख** बैठा रहे ।

तत्पश्चात् कार्यकर्त्ता **एक सपाट शिला,** जो कि सुन्दर चिकनी हो उस को तथा वधू और वर को कुण्ड के समीप बैठाने के लिए **दो कुशासन वा यज्ञिय तृणासन अथवा यज्ञिय वृक्ष की छाल के,** जो कि प्रथम से सिद्ध कर रक्खे हों, उन आसनों को रखवावे ।

तत्पश्चात् वस्त्र धारण की हुई कन्या को कार्यकर्त्ता वर के सम्मुख लावे और उस समय **वर और कन्या–**

ओं सम॑ञ्जन्तु विश्वे॑ दे॒वाः समापो॒ हृद॑यानि नौ ।
सं मा॑त॒रिश्वा॒ सं धा॒ता समु॒ देष्ट्री॑ दधातु नौ[१] ॥१॥

इस मन्त्र को बोलें । तत्पश्चात् **वर अपने दक्षिण हाथ से वधू का दक्षिण हाथ पकड़के–**

ओं यदैषि मनसा दूरं दिशोऽनुपवमानो वा ।
हिरण्यपर्णो वैकर्णः स त्वा मन्मनसां करोतु असौ[२] ॥२॥

इस मन्त्र को बोलके, उस को लेके घर के बाहर मण्डपस्थान में कुण्ड के समीप **हाथ पकड़े हुए दोनों आवें और वधू तथा वर–**

ओं भूर्भुव॒ः स्व॒ः । अघो॑रचक्षुरप॑तिघ्न्येधि शि॒वा प॒शुभ्य॒ः सु॒मना॑ः सु॒वर्चा॑ः । वी॒र॒सूर्दे॒वृका॑मा स्यो॒ना शं नो॑ भव द्वि॒पदे॒ शं चतु॑ष्पदे[३] ॥३॥

---

१. वर और कन्या बोलें कि (विश्वे देवाः) इस यज्ञशाला में बैठे हुए विद्वान् लोगो ! आप हम दोनों को (समञ्जन्तु) निश्चय करके जानें कि मैं अपनी प्रसन्नतापूर्वक इस वर वा इस वधू को गृहाश्रम में एकत्र रहने के लिए एक-दूसरे का स्वीकार करते हैं कि (नौ) हमारे दोनों के (हृदयानि) हृदय (आपः) जल के समान (सम्) शान्त और मिले हुए रहेंगे। जैसे (मातरिश्वा) प्राणवायु हम को प्रिय है, वैसे (सम्) हम दोनों एक-दूसरे से सदा प्रसन्न रहेंगे । जैसे (धाता) धारण करनेहारा परमात्मा सब में (सम्) मिला हुआ सब जगत् को धारण करता है, वैसे हम दोनों एक-दूसरे को धारण करेंगे। जैसे (समुदेष्ट्री) उपदेश करनेहारा श्रोताओं से प्रीति करता है, वैसे (नौ) हमारे दोनों का आत्मा एक-दूसरे के साथ दृढ़ प्रेम को (दधातु) धारण करे ॥१॥

२. (असौ) इस पद के स्थान में कन्या का नाम उच्चारण करना है । हे वरानने वा वरानन ! (यत्) जो तू (मनसा) अपनी इच्छा से मुझ को जैसे (पवमानः) पवित्र वायु (वा) जैसे (हिरण्यपर्णो वैकर्णः) तेजोमय जल आदि को किरणों से ग्रहण करनेवाला सूर्य (दूरम्) दूरस्थ पदार्थों और (दिशोऽनु) दिशाओं को प्राप्त होता है, वैसे तू प्रेमपूर्वक अपनी इच्छा से मुझ को प्राप्त होती वा होता है । उस (त्वा) तुझ को (सः) वह परमेश्वर (मन्मनसाम्) मेरे मन के अनुकूल (करोतु) करे और हे (वीर) जो आप मन से मुझ को (ऐषि) प्राप्त होते हो उस आप को जगदीश्वर मेरे मन के अनुकूल सदा रक्खे ॥२॥

३. हे वरानने ! (अपतिघ्नि) पति से विरोध न करनेहारी तू जिस के (ओम्) अर्थात् रक्षा करनेवाला, (भूः) प्राणदाता, (भुवः) सब दुःखों को दूर करेनहारा, (स्वः) सुखस्वरूप और सब सुखों के दाता आदि नाम हैं, उस परमात्मा की कृपा और अपने उत्तम पुरुषार्थ से हे (अघोरचक्षुः) प्रियदृष्टि स्त्री (एधि) हो, (शिवा) मङ्गल करनेहारी (पशुभ्यः) सब पशुओं को सुखदाता (सुमनाः) पवित्रान्तःकरणयुक्त प्रसन्नचित्त (सुवर्चाः) सुन्दर शुभ गुण, कर्म,

ओं भूर्भुवः स्वः । सा नः पूषा शिवतमामैरय सा न ऊरू उशती विहर । यस्यामुशन्तः प्रहराम शेफं यस्यामु कामा बहवो निविष्ट्यै ॥

इन ४ चार मन्त्रों को वर बोलके, दोनों वर वधू यज्ञकुण्ड की प्रदक्षिणा करके, कुण्ड के पश्चिम भाग में प्रथम स्थापन किये हुए आसन पर पूर्वाभिमुख वर के दक्षिण भाग में वधू और वधू के वाम भाग में वर बैठके, वधू–

ओं प्र मे पतियानः पन्थाः कल्पताꣳ शिवा अरिष्टा पतिलोकं गमेयम् ॥

इस मन्त्र को बोले ।

तत्पश्चात् पृष्ठ १७–१८ में लिखे प्रमाणे यज्ञकुण्ड के समीप दक्षिण भाग में उत्तराभिमुख **पुरोहित की स्थापना** करनी । तत्पश्चात् पृष्ठ १८ में लिखे प्रमाणे **(ओम् अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा)** इत्यादि तीन मन्त्रों से प्रत्येक मन्त्र से एक–एक आचमन, वैसे तीन आचमन वर–वधू और पुरोहित और कार्यकर्त्ता करके, हस्त और मुख–प्रक्षालन एक शुद्धपात्र में करके दूर रखवा दें । हाथ और मुख पोंछके पृ० १९ में लिखे प्रमाणे यज्ञकुण्ड में **(ओं भूर्भुवः स्वर्द्यौरिव०)** इस मन्त्र से अग्न्याधान पृ० १९ में लिखे प्रमाणे **(ओम् अयन्त इध्म०)** इत्यादि मन्त्रों से समिदा–धान, और पृष्ठ २० में लिखे प्रमाणे **(ओम् अदितेऽनुमन्यस्व)** इत्यादि ३ तीन मन्त्रों से कुण्ड के तीन ओर, और **(ओं देव सवितः प्रसुव०)** इस मन्त्र से कुण्ड के चारों ओर दक्षिण हाथ की अञ्जलि से शुद्ध जल सेचन करके, कुण्ड में डाली हुई समिधा प्रदीप्त हुए पश्चात् पृष्ठ २०–२१ में लिखे प्रमाणे वधू–वर पुरोहित और कार्यकर्त्ता **आघारावाज्यभागाहुति** ४ चार घी की देवें । तत्पश्चात् पृ० २१ में लिखे प्रमाणे **व्याहृति आहुति** ४ चार घी की और पृष्ठ २२–२३ में लिखे प्रमाणे **अष्टाज्याहुति** ८ आठ, ये सब मिलके १६ सोलह आज्याहुति देके प्रधान होम का प्रारम्भ करें ।

प्रधान होम के समय वधू अपने दक्षिण हाथ को वर के दक्षिण

स्वभाव और विद्या से सुप्रकाशित (वीरसूः) उत्तम वीर पुरुषों को उत्पन्न करनेहारी (देवृकामा) देवर की कामना करती हुई अर्थात् नियोग की भी इच्छा करनेहारी (स्योना) सुखयुक्त होके (नः) हमारे (द्विपदे) मनुष्यादि के लिये (शम्) सुख करनेहारी (भव) सदा हो । और (चतुष्पदे) गाय आदि पशुओं को भी (शम्) सुख देनेहारी हो । वैसे मैं तेरा पति भी वर्त्ता करूँ ।।३।।

स्कन्धे पर स्पर्श करके पृ० २१-२२ में लिखे प्रमाणे **(ओं भूर्भुवः स्वः। अग्न आयूंषि०)** इत्यादि ४ चार मन्त्रों से अर्थात् एक-एक से एक-एक मिलके ४ चार आज्याहुति क्रम से करें । और-

ओं भूर्भुवः स्वः। त्वमर्यमा भवसि यत्कनीनां नाम स्वधावन्गुह्यं बिभर्षि । अञ्जन्ति मित्रं सुधितं न गोभिर्यद्दम्पती समनसा कृणोषि स्वाहा ॥ इदमग्नये इदन्न मम ॥

इस मन्त्र को बोलके ५ पांचवीं आज्याहुति देनी । तत्पश्चात्-

ओम् ऋताषाड् ऋतधामाग्निर्गन्धर्वः । स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ॥ इदमृताषाहे ऋतधाम्नेऽग्नये गन्धर्वाय इदन्न मम ॥१॥

ओम् ऋताषाडृतधामाग्निर्गन्धर्वस्तस्यौषधयोऽप्सरसो मुदो नाम। ताभ्यः स्वाहा ॥ इदमोषधिभ्योऽप्सरोभ्यो मुद्भ्यः इदन्न मम ॥२॥

ओं संहितो विश्वसामा सूर्यो गन्धर्वः । स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ॥ इदं संहिताय विश्वसाम्ने सूर्याय गन्धर्वाय इदन्न मम ॥३॥

ओं संहितो विश्वसामा सूर्यो गन्धर्वस्तस्य मरीचयोऽप्सरस आयुवो नाम । ताभ्यः स्वाहा ॥ इदं मरीचिभ्योऽप्सरोभ्य आयुभ्यः इदन्न मम ॥४॥

ओं सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वः । स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ॥ इदं सुषुम्णाय सूर्यरश्मये चन्द्रमसे गन्धर्वाय इदन्न मम ॥५॥

ओं सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वस्तस्य नक्षत्राण्यप्सरसो भेकुरयो नाम । ताभ्यः स्वाहा ॥ इदं नक्षत्रेभ्योऽप्सरोभ्यो भेकुरिभ्यः इदन्न मम ॥६॥

ओम् इषिरो विश्वव्यचा वातो गन्धर्वः । स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ॥ इदमिषिराय विश्वव्यचसे वाताय गन्धर्वाय इदन्न मम ॥७॥

ओम् इषिरो विश्वव्यचा वातो गन्धर्वस्तस्यापो अप्सरस ऊर्ज्जो नाम ताभ्यः स्वाहा ॥ इदमद्भ्योऽप्सरोभ्यऽऊग्भ्र्यः इदन्न मम ॥८॥

ओं भुज्युः सुपर्णो यज्ञो गन्धर्वः । स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ॥ इदं भुज्यवे सुपर्णाय यज्ञाय गन्धर्वाय इदन्न मम ॥९॥

ओं भुज्युः सुपर्णो यज्ञो गन्धर्वस्तस्य दक्षिणा अप्सरस स्तावा नाम । ताभ्यः स्वाहा ॥ इदं दक्षिणाभ्योऽप्सरोभ्यः स्तावाभ्यः इदन्न मम ॥१०॥

ओं प्रजापतिर्विश्वकर्मा मनो गन्धर्वः । स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ॥ इदं प्रजापतये विश्वकर्मणे मनसे गन्धर्वाय इदन्न मम ॥११॥

ओं प्रजापतिर्विश्वकर्मा मनो गन्धर्वस्तस्य ऋक्सामान्यप्सरस एष्टयो नाम । ताभ्यः स्वाहा ॥ इदमृक्सामेभ्योऽप्सरोभ्य एष्टिभ्यः इदन्न मम ॥१२॥

इन १२ बारह मन्त्रों से १२ बारह आज्याहुति देनी ।

तत्पश्चात् जयाहोम करना—

ओं चित्तं च स्वाहा ॥ इदं चित्ताय इदन्न मम ॥१॥
ओं चित्तिश्च स्वाहा ॥ इदं चित्त्यै इदन्न मम ॥२॥
ओम् आकूतं च स्वाहा ॥ इदमाकूताय इदन्न मम ॥३॥
ओं आकूतिश्च स्वाहा ॥ इदमाकूत्यै इदन्न मम ॥४॥
ओं विज्ञातं च स्वाहा ॥ इदं विज्ञाताय इदन्न मम ॥५॥
ओं विज्ञातिश्च स्वाहा ॥ इदं विज्ञात्यै इदन्न मम ॥६॥
ओं मनश्च स्वाहा ॥ इदं मनसे इदन्न मम ॥७॥
ओं शक्वरीश्च स्वाहा ॥ इदं शक्वरीभ्यः इदन्न मम ॥८॥
ओं दर्शश्च स्वाहा ॥ इदं दर्शाय इदन्न मम ॥९॥
ओं पौर्णमासं च स्वाहा ॥ इदं पौर्णमासाय इदन्न मम ॥१०॥
ओं बृहच्च स्वाहा ॥ इदं बृहते इदन्न मम ॥११॥
ओं रथन्तरं च स्वाहा ॥ इदं रथन्तराय इदन्न मम ॥१२॥

ओं प्रजापतिर्जयानिन्द्राय वृष्णे प्रायच्छदुग्रः पृतना जयेषु। तस्मै विशः समनमन्त सर्वाः स उग्रः स इहव्यो बभूव स्वाहा॥ इदं प्रजापतये जयानिन्द्राय इदन्न मम ॥१३॥

इन मन्त्रों से प्रत्येक से एक-एक करके जयाहोम की १३ तेरह आज्याहुति देनी ।

तत्पश्चात् अभ्यातन होम करना । इसके मन्त्र ये हैं–

ओम् अग्निर्भूतानामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याꣳ स्वाहा॥ इदमग्नये भूतानामधिपतये इदन्न मम ॥१॥

ओम् इन्द्रो ज्येष्ठानामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याꣳ स्वाहा॥ इदमिन्द्राय ज्येष्ठानामधिपतये इदन्न मम ॥२॥

ओं यमः पृथिव्याऽअधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याꣳ स्वाहा॥ इदं यमाय पृथिव्या अधिपतये इदन्न मम ॥३॥

ओं वायुरन्तरिक्षस्याधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याꣳ स्वाहा॥ इदं वायवे अन्तरिक्षस्याधिपतये इदन्न मम ॥४॥

ओं सूर्यो दिवोऽधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याꣳ स्वाहा ॥ इदं सूर्याय दिवोऽधिपतये इदन्न मम ॥५॥

ओं चन्द्रमा नक्षत्राणामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याꣳ स्वाहा॥ इदं चन्द्रमसे नक्षत्राणामधिपतये इदन्न मम ॥६॥

ओं बृहस्पतिर्ब्रह्मणोऽधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याꣳ स्वाहा॥ इदं बृहस्पतये ब्रह्मणोऽधिपतये इदन्न मम ॥७॥

ओं मित्रः सत्यानामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याꣳ स्वाहा॥ इदं मित्राय सत्यानामधिपतये इदन्न मम ॥८॥

ओं वरुणोऽपामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याꣳ स्वाहा ॥ इदं वरुणायापामधिपतये इदन्न मम ॥९॥

ओं समुद्रः स्रोत्यानामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याꣳ स्वाहा॥ इदं समुद्राय स्रोत्यानामधिपतये इदन्न मम ॥१०॥

ओम् अन्नᳬ साम्राज्यानामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्य-स्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳬ स्वाहा ॥ इदमन्नाय साम्राज्यानामधिपतये इदन्न मम ॥११॥

ओं सोमऽओषधीनामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳬ स्वाहा॥ इदं सोमाय ओषधीनामधिपतये इदन्न मम ॥१२॥

ओं सविता प्रसवानामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳬ स्वाहा॥ इदं सवित्रे प्रसवानामधिपतये इदन्न मम ॥१३॥

ओं रुद्रः पशूनामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳬ स्वाहा॥ इदं रुद्राय पशूनामधिपतये इदन्न मम ॥१४॥

ओं त्वष्टा रूपाणामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳬ स्वाहा॥ इदं त्वष्ट्रे रूपाणामधिपतये इदन्न मम ॥१५॥

ओं विष्णुः पर्वतानामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳬ स्वाहा॥ इदं विष्णवे पर्वतानामधिपतये इदन्न मम ॥१६॥

ओं मरुतो गणानामधिपतयस्ते मावन्त्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳬ स्वाहा॥ इदं मरुद्भ्यो गणानामधिपतिभ्यः इदन्न मम ॥१७॥

ओं पितरः पितामहाः परेऽवरे ततास्ततामहा इह मावन्त्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳬ स्वाहा ॥ इदं पितृभ्यः पितामहेभ्यः परेभ्योऽवरेभ्य-स्ततेभ्यस्ततामहेभ्यश्च इदन्न मम ॥१८॥

इस प्रकार अभ्यातन होम की अठारह आज्याहुति दिये पीछे, पुनः—

ओम् अग्निरैतु प्रथमो देवतानाᳬ सोऽस्यै प्रजां मुञ्चतु मृत्युपाशात्। तदयᳬ राजा वरुणोऽनुमन्यतां यथेयᳬ स्त्री पौत्रमघन्न रोदात् स्वाहा ॥ इदमग्नये इदन्न मम ॥१॥

ओम् इमामग्निस्त्रायतां गार्हपत्यः प्रजामस्यै नयतु दीर्घमायुः। अशून्योपस्था जीवतामस्तु माता पौत्रमानन्दमभिविबुध्यतामियᳬ स्वाहा ॥ इदमग्नये इदन्न मम ॥२॥

ओं स्वस्ति नोऽग्ने दिवा पृथिव्या विश्वानि धेह्ययथा यजत्र। यदस्यां मयि दिवि जातं प्रशस्तं तदस्मासु द्रविणं धेहि चित्रꣳ स्वाहा ॥ इदमग्नये इदन्न मम ॥३॥

ओं सुगन्नु पन्थां प्रदिशन्न एहि ज्योतिष्मध्ये ह्यजरन्नऽआयुः। अपैतु मृत्युरमृतं म आगाद् वैवस्वतो नोऽअभयं कृणोतु स्वाहा ॥ इदं वैवस्वताय इदन्न मम ॥४॥

ओं परं मृत्योऽअनु परेहि पन्थां यत्र नोऽअन्य इतरो देवयानात्। चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमि मा नः प्रजाꣳरीरिषो मोत वीरान्त्स्वाहा॥ इदं मृत्यवे इदन्न मम ॥५॥

ओं द्यौस्ते पृष्ठꣳ रक्षतु वायुरूरू अश्विनौ च । स्तनन्धयस्ते पुत्रान्त्सविताभिरक्षत्वावासस: परिधानाद् बृहस्पतिर्विश्वे देवा अभिरक्षन्तु पश्चात्स्वाहा ॥ इदं विश्वेभ्यो देवेभ्यः इदन्न मम ॥६॥

ओं मा ते गृहेषु निशि घोष उत्त्थादन्यत्र त्वद्रुदत्यः संविशन्तु मा त्वꣳ रुदत्युरऽआवधिष्ठा जीवपत्नी पतिलोके विराज पश्यन्ती प्रजाꣳ सुमनस्यमानाꣳ स्वाहा ॥ इदमग्नये इदन्न मम ॥७॥

ओम् अप्रजस्यं पौत्रमर्त्यं पाप्मानमुत वाऽअघम् । शीर्ष्णस्त्रजमिवोन्मुच्य द्विषद्भ्यः प्रतिमुञ्चामि पाशꣳ स्वाहा ॥ इदमग्नये इदन्न मम ॥८॥

इन प्रत्येक मन्त्रों से एक-एक आहुति करके आठ आज्याहुति दीजिये।

तत्पश्चात् पृष्ठ २१ में लिखे प्रमाणे (ओं भूरग्नये स्वाहा) इत्यादि ४ चार मन्त्रों से ४ चार आज्याहुति दीजिये ।

ऐसे होम करके वर आसन से उठ पूर्वाभिमुख बैठी वधू के सम्मुख पश्चिमाभिमुख खड़ा रहकर अपने वामहस्त से वधू का दहिना हाथ चत्ता धरके ऊपर को उचाना । और अपने दक्षिण हाथ से वधू के उठाये हुए दक्षिण हस्ताञ्जलि अंगुष्ठासहित चत्ती ग्रहण करके, वर–

ओं गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः । भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः[1] ॥१॥

---

१. हे वरानने ! जैसे मैं (सौभगत्वाय) ऐश्वर्य सुसन्तानादि सौभाग्य की बढ़ती के लिये (ते) तेरे (हस्तम्) हाथ को (गृभ्णामि) ग्रहण करता हूं, तू (मया) मुझ (पत्या) पति के साथ (जरदष्टिः) जरावस्था को प्राप्त सुखपूर्वक (आसः) हो तथा हे वीर ! मैं सौभाग्य की वृद्धि के लिये आपके हस्त को

ओं भगस्ते हस्तमग्रभीत् सविता हस्तमग्रभीत् ।
पत्नी त्वमसि धर्मणाहं गृहपतिस्तव[1] ॥२॥
ममेयमस्तु पोष्या मह्यं त्वादाद् बृहस्पतिः ।
मया पत्या प्रजावति शं जीव शरदः शतम्[2] ॥३॥
त्वष्टा वासो व्यदधाच्छुभे कं बृहस्पतेः प्रशिषा कवीनाम् ।
तेनेमां नारीं सविता भगश्च सूर्यामिव परि धत्तां प्रजया[3] ॥४॥

ग्रहण करती हूं । आप मुझ पत्नी के साथ वृद्धावस्था पर्यन्त प्रसन्न और अनुकूल रहिये । आप को मैं और मुझ को आप आज से पति-पत्नी भाव करके प्राप्त हुए हैं । (भगः) सकल ऐश्वर्ययुक्त (अर्यमा) न्यायकारी (सविता) सब जगत् की उत्पत्ति का कर्त्ता (पुरन्धिः) बहुत प्रकार के जगत् का धर्त्ता परमात्मा और (देवाः) ये सब सभामण्डप में बैठे हुए विद्वान् लोग (गार्हपत्याय) गृहाश्रम कर्म के अनुष्ठान के लिये (त्वा) तुझ को (मह्यम्) मुझे (अदुः) देते हैं । आज से मैं आप के हस्ते और आप मेरे हाथ बिक चुके हैं, कभी एक-दूसरे का अप्रियाचरण न करेंगे ॥१॥

१. हे प्रिये ! (भगः) ऐश्वर्ययुक्त मैं (ते) तेरे (हस्तम्) हाथ को (अग्रभीत्) ग्रहण करता हूं । तथा (सविता) धर्मयुक्त मार्ग में प्रेरक मैं तेरे (हस्तम्) हाथ को (अग्रभीत्) ग्रहण कर चुका हूं । (त्वम्) तू (धर्मणा) धर्म से मेरी (पत्नी) भार्या (असि) है, और (अहम्) मैं धर्म से (तव) तेरा (गृहपतिः) गृहपति हूं। अपने दोनों मिलके घर के कामों की सिद्धि करें। और जो दोनों का अप्रियाचरण व्यभिचार है, उस को कभी न करें । जिस से घर के सब काम सिद्ध, उत्तम सन्तान, ऐश्वर्य और सुख की बढ़ती सदा होती रहे ॥२॥

२. हे अनघे ! (बृहस्पतिः) सब जगत् के पालन करनेहारे परमात्मा ने जिस (त्वा) तुझ को (मह्यम्) मुझे (अदात्) दिया है, (इदम्) यही तू जगत् भर में मेरी (पोष्या) पोषण करने योग्य पत्नी (अस्तु) हो । हे (प्रजावति !) तू (मया पत्या) मुझ पति के साथ (शतम्) सौ (शरदः) शरद् ऋतु अर्थात् शतवर्ष पर्यन्त (शं जीव) सुखपूर्वक जीवन धारण कर । वैसे ही वधू भी वर से प्रतिज्ञा करावे–'हे भद्रवीर! परमेश्वर की कृपा से आप मुझे प्राप्त हुए हो । मेरे लिये आपके विना इस जगत् में दूसरा पति अर्थात् स्वामी पालन करनेहारा सेव्य इष्टदेव कोई नहीं है। न मैं आप से अन्य दूसरे किसी को मानूंगी । जैसे आप मेरे सिवाय दूसरी किसी स्त्री से प्रीति न करोगे, वैसे मैं भी किसी दूसरे पुरुष के साथ प्रीतिभाव से न वर्त्ता करूंगी । आप मेरे साथ सौ वर्ष पर्यन्त आनन्द से प्राण धारण कीजिये' ॥३॥

३. हे शुभानने ! जैसे (बृहस्पतेः) इस परमात्मा की सृष्टि में और उस की तथा (कवीनाम्) आप्त विद्वानों की (प्रशिषा) शिक्षा से दम्पती होते हैं, (त्वष्टा) जैसे बिजुली सब को व्याप्त हो रही है, वैसे तू मेरी प्रसन्नता के लिये (वासः) सुन्दर वस्त्र, और (शुभे) आभूषण तथा (कम्) मुझ से सुख को प्राप्त

इन्द्राग्नी द्यावापृथिवी मातरिश्वा मित्रावरुणा भगो अश्विनोभा।
बृहस्पतिर्मरुतो ब्रह्म सोम इमां नारीं प्रजया वर्धयन्तु[१] ॥५॥
अहं वि ष्यामि मयि रूपमस्या वेददित् पश्यन्मनसा कुलायम्।
न स्तेयमद्मि मनसोदमुच्ये स्वयं श्रथ्नानो वरुणस्य पाशान्[२] ॥६॥

इन पाणिग्रहण के ६ छह मन्त्रों को बोलके, पश्चात् **वर वधू की हस्ताञ्जलि पकड़के उठावे** और उस को साथ लेके जो कुण्ड की दक्षिण दिशा में प्रथम स्थापन किया था, उस को वही पुरुष जो कलश

हो । इस मेरी और तेरी इच्छा को परमात्मा (व्यदधात्) सिद्ध करे । जैसे (सविता) सकल जगत् की उत्पत्ति करनेहारा परमात्मा (च) और (भगः) पूर्ण ऐश्वर्ययुक्त (प्रजया) उत्तम प्रजा से (इमाम्) इस तुझ (नारीम्) मुझ नर की स्त्री को (परिधत्ताम्) आच्छादित शोभायुक्त करे, वैसे मैं (तेन) इस सब से (सूर्याम् इव) सूर्य की किरण के समान तुझ को वस्त्र और भूषणादि से सुशोभित सदा रक्खूंगा । तथा हे प्रिय ! आप को मैं इसी प्रकार सूर्य के समान सुशोभित आनन्द अनुकूल प्रियाचरण करके (प्रजया) ऐश्वर्य वस्त्राभूषण आदि से सदा आनन्दित रक्खूंगी ॥४॥

१. हे मेरे सम्बन्धी लोगो ! जैसे (इन्द्राग्नी) बिजुली और प्रसिद्ध अग्नि, (द्यावापृथिवी) सूर्य और भूमि, (मातरिश्वा) अन्तरिक्षस्थ वायु, (मित्रावरुणा) प्राण और उदान तथा (भगः) ऐश्वर्य (अश्विना) सद्वैद्य और सत्योपदेशक (उभा) दोनों, (बृहस्पतिः) श्रेष्ठ, न्यायकारी, बड़ी प्रजा का पालन करनेहारा राजा, (मरुतः) सभ्य मनुष्य, (ब्रह्म) सब से बड़ा परमात्मा, और (सोमः) चन्द्रमा तथा सोमलतादि ओषधिगण सब प्रजा की वृद्धि और पालन करते हैं, वैसे (इमां नारीम्) इस मेरी स्त्री को (प्रजया) प्रजा से बढ़ाया करते हैं, वैसे तुम भी (वर्धयन्तु) बढ़ाया करो। जैसे मैं इस स्त्री को प्रजा आदि से सदा बढ़ाया करूंगा, वैसे स्त्री भी प्रतिज्ञा करे कि मैं भी इस मेरे पति को सदा आनन्द ऐश्वर्य और प्रजा से बढ़ाया करूंगी । जैसे ये दोनों मिलके प्रजा को बढ़ाया करते हैं, वैसे तू और मैं मिलके गृहाश्रम के अभ्युदय को बढ़ाया करें ॥५॥

२. हे कल्याणक्रोडे ! जैसे (मनसा) मन से (कुलायम्) कुल की वृद्धि को (पश्यन्) देखता हुआ (अहम्) मैं (अस्याः) इस तेरे (रूपम्) रूप को (विष्यामि) प्रीति से प्राप्त और इस में प्रेम द्वारा व्याप्त होता हूं, वैसे यह तू मेरी वधू (मयि) मुझ में प्रेम से व्याप्त होके अनुकूल व्यवहार को (वेदत्) प्राप्त होवे । जैसे मैं (मनसा) मन से भी इस तुझ वधू के साथ (स्तेयम्) चोरी को (उद्मुच्ये) छोड़ देता हूं, और किसी उत्तम पदार्थ का चोरी से (नाद्मि) भोग नहीं करता हूं, (स्वयम्) आप (श्रथ्नानः) पुरुषार्थ से शिथिल होकर भी (वरुणस्य) उत्कृष्ट व्यवहार में विघ्नरूप दुर्व्यसनी पुरुष के (पाशान्) बन्धनों को दूर करता रहूं, वैसे (इत्) ही यह वधू भी किया करे। इसी प्रकार वधू भी स्वीकार करे कि—मैं भी इसी प्रकार आप से वर्त्ता करूंगी ॥६॥

के पास बैठा था, वर-वधू के साथ उसी कलश को ले चले। **यज्ञकुण्ड की दोनों प्रदक्षिणा करके—**

ओम् अमोऽहमस्मि सा त्वꣳ सा त्वमस्यमोऽहम् । सामाहमस्मि ऋक्त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वं तावेव विवहावहै सह रेतो दधावहै ॥ प्रजां प्रजनयावहै पुत्रान् विन्दावहै बहून् ते सन्तु जरदष्टयः॥ संप्रियौ रोचिष्णू सुमनस्यमानौ । पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतम्[1] ॥७॥

इन प्रतिज्ञा-मन्त्रों से दोनों प्रतिज्ञा करके—

पश्चात् वर वधू के पीछे रहके, वधू के दक्षिण ओर समीप में जा उत्तराभिमुख खड़ा रहके, वधू की दक्षिणाञ्जलि अपनी दक्षिणाञ्जलि से पकड़के दोनों खड़े रहें । और वह पुरुष पुनः कुण्ड के दक्षिण में कलश लेके वैसे बैठे । तत्पश्चात् **वधू की माता अथवा भाई** जो प्रथम चावल और ज्वार की धाणी सूप में रखी थी, उस को बायें हाथ में लेके **दहिने हाथ से वधू का दक्षिण पग उठवाके पत्थर की शिला पर चढ़वावे ।** और उस समय वर—

---

१. हे वधू ! जैसे (अहम्) मैं (अमः) ज्ञानवान् ज्ञानपूर्वक तेरा ग्रहण करनेवाला (अस्मि) होता हूं, वैसे (सा) सो (त्वम्) तू भी ज्ञानपूर्वक मेरा ग्रहण करनेहारी (असि) है । जैसे (अहम्) मैं अपने पूर्ण प्रेम से तुझ को (अमः) ग्रहण करता हूं, वैसे (सा) सो मैंने ग्रहण की हुई (त्वम्) तू मुझ को भी ग्रहण करती है । (अहम्) मैं (साम) सामवेद के तुल्य प्रशंसित (अस्मि) हूं । हे वधू ! तू (ऋक्) ऋग्वेद के तुल्य प्रशंसित है, (त्वम्) तू (पृथिवी) पृथिवी के समान गर्भादि गृहाश्रम के व्यवहारों को धारण करनेहारी है और मैं (द्यौः) वर्षा करनेहारे सूर्य के समान हूं । वह तू और मैं (तावेव) दोनों ही (विवहावहै) प्रसन्नतापूर्वक विवाह करें, (सह) साथ मिलके (रेतः) वीर्य को (दधावहै) धारण करें । (प्रजाम्) उत्तम प्रजा को (प्रजनयावहै) उत्पन्न करें, (बहून्) बहुत (पुत्रान्) पुत्रों को (विन्दावहै) प्राप्त होवें । (ते) वे पुत्र (जरदष्टयः) जरावस्था के अन्त तक जीवनयुक्त (सन्तु) रहें, (संप्रियौ) अच्छे प्रकार [एक] दूसरे से प्रसन्न, (रोचिष्णू) एक-दूसरे में रुचियुक्त, (सुमनस्यमानौ) अच्छे प्रकार विचार करते हुए (शतम्) सौ [शरदः] शरद्ऋतु अर्थात् शत वर्ष पर्यन्त एक-दूसरे को प्रेम की दृष्टि से (पश्येम) देखते रहें (शतं शरदः) सौ वर्ष पर्यन्त आनन्द से (जीवेम) जीते रहें और (शतं शरदः) सौ वर्ष पर्यन्त प्रिय वचनों को (शृणुयाम) सुनते रहें ॥७॥

ओम् आरोहेममश्मानमश्मेव त्वꣳ स्थिरा भव ।
अभितिष्ठ पृतन्यतोऽवबाधस्व पृतनायतः ॥१॥

इस मन्त्र को बोले ।

तत्पश्चात् वधू वर कुण्ड के समीप आके पूर्वाभिमुख दोनों खड़े रहें और यहां वधू दक्षिण ओर रहके अपनी हस्ताञ्जलि को वर की हस्ताञ्जलि पर रक्खे ।

तत्पश्चात् वधू की मां वा भाई, जो बायें हाथ में धाणी का सूपड़ा पकड़के खड़ा रहा हो, वह धाणी का सूपड़ा भूमि पर धर अथवा किसी के हाथ में देके, जो वधू-वर की एकत्र की हुई अर्थात् नीचे वर की और ऊपर वधू की हस्ताञ्जलि है, उस में प्रथम थोड़ा घृत सिंचन करके, पश्चात् प्रथम सूप में से दहिने हाथ की अञ्जलि से दो वार लेके वर-वधू की एकत्र की हुई अञ्जलि में धाणी डाले । पश्चात् उस अञ्जलिस्थ धाणी पर थोड़ा सा घी सिंचन करे । पश्चात् **वधू वर की** हस्ताञ्जलि सहित अपनी हस्ताञ्जलि को आगे से नमाके—

ओम् अर्यमणं देवं कन्या अग्निमयक्षत । स नो अर्यमा देवः प्रेतो मुञ्चतु मा पतेः स्वाहा ॥ इदमर्यम्णे अग्नये इदन्न मम ॥१॥

ओम् इयं नार्युपब्रूते लाजानावपन्तिका । आयुष्मानस्तु मे पतिरेधन्तां ज्ञातयो मम स्वाहा ॥ इदमग्नये इदन्न मम ॥१॥

ओम् इमाँल्लाजानावपाम्यग्नौ समृद्धिकरणं तव। मम तुभ्यं च संवननं तदग्निरनुमन्यतामियꣳ स्वाहा ॥ इदमग्नये इदन्न मम ॥१॥

इन ३ तीन मन्त्रों में एक-एक मन्त्र से एक-एक वार थोड़ी-थोड़ी धाणी की आहुति तीन वार प्रज्वलित ईंधन पर देके, **वर**—

ओं सरस्वति प्रेदमव सुभगे वाजिनीवति । यान्त्वा विश्वस्य भूतस्य प्रजायामस्याग्रतः । यस्यां भूतꣳ समभवद् यस्यां विश्वमिदं जगत् । तामद्य गाथां गास्यामि या स्त्रीणामुत्तमं यशः ॥१॥

इस मन्त्र को बोलके अपने जमणे हाथ की हस्ताञ्जलि से वधू की हस्ताञ्जलि पकड़के, **वर**—

ओं तुभ्यमग्रे पर्यवहन्त्सूर्यां वहतुना सह ।
पुनः पतिभ्यो जायां दा अग्ने प्रजया सह ॥१॥
ओं कन्यला पितृभ्यः पतिलोकं यतीयमप दीक्षामयष्ट ।
कन्या उत त्वया वयं धारा उदन्या इवातिगाहेमहि द्विषः ॥२॥

इन मन्त्रों को पढ़ **यज्ञकुण्ड की प्रदक्षिणा करके,** यज्ञकुण्ड के

पश्चिम भाग में पूर्व की ओर मुख करके थोड़ी देर दोनों खड़े रहें ।

तत्पश्चात् पूर्वोक्त प्रकार कलश सहित यज्ञकुण्ड की प्रदक्षिणा कर, पुनः दो वार इसी प्रकार, अर्थात् सब मिलके ४ चार परिक्रमा करके, अन्त में यज्ञकुण्ड के पश्चिम में थोड़ा खड़ा रहके, उक्त रीति से तीन वार क्रिया पूरी हुए पश्चात् यज्ञकुण्ड के पश्चिम भाग में पूर्वाभिमुख वधू-वर खड़े रहें । पश्चात् वधू की मां अथवा भाई उस सूप को तिरछा करके उस में बाकी रही हुई धाणी को वधू की हस्ताञ्जलि में डाल देवे । पश्चात् **वधू**–

ओं भगाय स्वाहा ॥ इदं भगाय इदन्न मम ॥

इस मन्त्र को बोलके प्रज्वलित अग्नि पर वेदी में उस धाणी की एक आहुति देवे । पश्चात् **वर वधू को दक्षिण भाग में रखके कुण्ड के पश्चिम पूर्वाभिमुख बैठके**–

ओं प्रजापतये स्वाहा ॥ इदं प्रजापतये इदन्न मम ॥

इस मन्त्र को बोलके स्रुवा से एक घृत की आहुति देवे ।

तत्पश्चात् एकान्त में जाके वधू के बंधे हुये केशों को वर–

प्र त्वा मुञ्चामि वरुणस्य पाशाद् येन त्वाबध्नात् सविता सुशेवः। ऋतस्य योनौ सुकृतस्य लोकेऽरिष्टां त्वा सह पत्या दधामि ॥१॥

प्रेतो मुञ्चामि नामुतः सुबद्धाममुतस्करम् ।
यथेयमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रा सुभगासति ॥२॥

इन दोनों मन्त्रों को बोलके प्रथम **वधू के केशों को छोड़ना** ।

तत्पश्चात् सभामण्डप में आके 'सप्तपदी-विधि' का आरम्भ करे। इस समय **वर के उपवस्त्र के साथ वधू के उत्तरीय वस्त्र की गांठ देनी, इसे 'जोड़ा' कहते हैं** । वधू-वर दोनों जने आसन पर से उठके **वर अपने दक्षिण हाथ से वधू की दक्षिण हस्ताञ्जलि पकड़के यज्ञकुण्ड के उत्तरभाग में जावें** । तत्पश्चात् वर अपना दक्षिण हाथ वधू के दक्षिण स्कन्धे पर रखके दोनों समीप-समीप उत्तराभिमुख खड़े रहें । तत्पश्चात् **वर**–

मा सव्येन दक्षिणमतिक्राम ॥

ऐसा बोलके वधू को उस का दक्षिण पग उठवाके चलने के लिए आज्ञा देनी । और–

ओम् इष एकपदी भव सा मामनुव्रता भव विष्णुस्त्वा नयतु

पुत्रान् विन्दावहै बहूँस्ते सन्तु जरदष्टयः ॥

इस मन्त्र को बोलके वर अपने साथ वधू को लेकर ईशान दिशा में एक पग[१] चले और चलावे ।

ओम् ऊर्ज्जे द्विपदी भव०[२] **॥** इस मन्त्र से दूसरा ।
ओं रायस्पोषाय त्रिपदी भव० ॥ इस मन्त्र से तीसरा ।
ओं मयोभवाय चतुष्पदी भव० ॥ इस मन्त्र से चौथा ।
ओं प्रजाभ्यः पञ्चपदी भव० ॥ इस मन्त्र से पांचवां ।
ओं ऋतुभ्यः षट्पदी भव० ॥ इस मन्त्र से छठा । और–
ओं सखे सप्तपदी भव० ॥ इस मन्त्र से सातवां पगला चलना।

इस रीति से इन **७ सात मन्त्रों से ७ सात पग ईशान दिशा में चलाके वर-वधू दोनों गांठ बंधे हुए शुभासन पर बैठें ।**

तत्पश्चात् प्रथम से जो जल के कलश को लेके यज्ञकुण्ड के दक्षिण की ओर में बैठाया था, वह पुरुष उस पूर्व-स्थापित जलकुम्भ को लेके वधू वर के समीप आवे । और उस में से थोड़ा सा जल लेके **वधू-वर के मस्तक पर छिटकावे** । और **वर**–

ओम् आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता नऽ ऊर्जे दधातन । महे रणाय चक्षसे ॥१॥ ओं यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः । उशतीरिव मातरः ॥२॥ ओं तस्माऽ अरं गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ । आपो जनयथा च नः ॥३॥

ओम् आपः शिवाः शिवतमाः शान्ताः शान्ततमास्तास्ते कृण्वन्तु भेषजम् ॥४॥

इन ४ चार मन्त्रों को बोले । तत्पश्चात् **वधू-वर वहां से उठके**–

ओं तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् । पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्र ब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ॥१॥

इस **मन्त्र को पढ़के सूर्य का अवलोकन करें ।**

---

१. इस पग धरने का विधि ऐसा है कि वधू प्रथम अपना जमणा पग उठाके ईशानकोण की ओर बढ़ाके धरे । तत्पश्चात् दूसरे बायें पग को उठाके जमणे पग की पटली तक धरे । अर्थात् जमणे पग के थोड़ा सा पीछे बायां पग रक्खे । इसी को एक पगला गिणना । इसी प्रकार अगले छः मन्त्रों से भी क्रिया करनी । अर्थात् १-१ मन्त्र से १-१ पग ईशान दिशा की ओर धरना।

२. जो 'भव' के आगे मन्त्र में पाठ है, सो छः मन्त्रों के इस 'भव' पद के आगे पूरा बोलके पग धरने की क्रिया करनी ।

तत्पश्चात् **वर** वधू के **दक्षिण स्कन्धे पर अपना दक्षिण हाथ लेके** उस से **वधू का हृदय स्पर्श करके–**

ओं मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनु चित्तं ते अस्तु ।
मम वाचमेकमना जुषस्व प्रजापतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम् ।।[१]

इस मन्त्र को बोले और उसी प्रकार **वधू भी अपने दक्षिण हाथ से वर के हृदय का स्पर्श करके** इसी ऊपर लिखे हुए मन्त्र को बोले[२]।

तत्पश्चात् **वर वधू के मस्तक पर हाथ धरके–**

सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत ।
सौभाग्यमस्यै दत्त्वा याथास्तं वि परेतन ।।

इस मन्त्र को बोलके कार्यार्थ आये हुए लोगों की ओर अवलोकन करना और इस समय सब लोग–

'ओं सौभाग्यमस्तु । ओं शुभं भवतु ।।'

इस वाक्य से आशीर्वाद देवें ।

तत्पश्चात् वधू–वर यज्ञकुण्ड के समीप पूर्ववत् बैठके, पुनः पृष्ठ २१ में लिखे प्रमाणे दोनों **(ओं यदस्य कर्मणो०)** इस **स्विष्टकृत्** मन्त्र से होमाहुति अर्थात् एक आज्याहुति और पृष्ठ २१ में लिखे प्रमाणे **(ओं भूरग्नये स्वाहा)** इत्यादि ४ चार मन्त्रों से एक–एक से एक–एक आहुति करके ४ चार आज्याहुति देवें । और **इस प्रमाणे विवाह का विधि पूरा हुए पश्चात् दोनों जने आराम, अर्थात् विश्राम करें ।**

इस रीति से थोड़ा सा विश्राम करके विवाह का उत्तर–विधि करें।

---

१. हे वधू ! (ते) तेरे (हृदयम्) अन्तःकरण और आत्मा को (मम) मेरे (व्रते) कर्म के अनुकूल (दधामि) धारण करता हूं । (मम) मेरे (चित्तमनु) चित्त के अनुकूल (ते) तेरा (चित्तम्) चित्त सदा (अस्तु) रहे । (मम) मेरी (वाचम्) वाणी को तू (एकमनाः) एकाग्रचित्त से (जुषस्व) सेवन किया कर । (प्रजापतिः) प्रजा का पालन करनेवाला परमात्मा (त्वा) तुझ को (मह्यम्) मेरे लिये (नियुनक्तु) नियुक्त करे ।

२. वैसे ही हे प्रिय वीर स्वामिन् ! आपका हृदय, आत्मा और अन्तःकरण मेरे प्रियाचरण कर्म में धारण करती हूं । मेरे चित्त के अनुकूल आपका चित्त सदा रहे । आप एकाग्र होके मेरी वाणी का जो कुछ मैं आपसे कहूं, उसका सेवन सदा किया कीजिए, क्योंकि आज से प्रजापति परमात्मा ने आप को मेरे आधीन किया है जैसे मुझ को आपके आधीन किया है, अर्थात् इस प्रतिज्ञा के अनुकूल दोनों वर्ता करें, जिस से सर्वदा आनन्दित और कीर्तिमान्, पतिव्रता और स्त्रीव्रत होके सब प्रकार के व्यभिचार, अप्रियभाषणादि को छोड़के परस्पर प्रीतियुक्त रहें ।

यह उत्तर-विधि सब **वधू के घर की ईशान दिशा में,** विशेष करके एक घर प्रथम से बना रखा हो, वहां जाके करना ।

तत्पश्चात् सूर्य अस्त हुए पीछे [जब] आकाश में नक्षत्र दीखें, उस समय **वधू-वर यज्ञकुण्ड के पश्चिम भाग में पूर्वाभिमुख आसन पर बैठें** और पृष्ठ १९ में लिखे प्रमाणे अग्न्याधान **(ओं भूर्भुवः स्वर्द्यौ०)** इस मन्त्र से करें । यदि प्रथम ही सभामण्डप ईशान दिशा में हुआ, और प्रथम अग्न्याधान किया हो तो अग्न्याधान न करें । **(ओं अयन्त इध्म०)** इत्यादि ४ चार मन्त्रों से समिदाधान करके, जब अग्नि प्रदीप्त होवे तब पृष्ठ २०-२१ में लिखे प्रमाणे **(ओम् अग्नये स्वाहा)** इत्यादि ४ चार मन्त्रों से आघारावाज्यभागाहुति ४ चार और पृष्ठ २१ में लिखे प्रमाणे **(ओं भूरग्नये स्वाहा)** इत्यादि ४ चार मन्त्रों से ४ चार व्याहृति आहुति, ये सब मिलके **८ आठ आज्याहुति देवें** ।

तत्पश्चात् प्रधान-होम करें निम्नलिखित मन्त्रों से-

ओं लेखासन्धिषु पक्ष्मस्वारोकेषु च यानि ते । तानि ते पूर्णाहुत्या सर्वाणि शमयाम्यहं स्वाहा॥ इदं कन्यायै इदन्न मम॥

ओं केशेषु यच्च पापकमीक्षिते रुदिते च यत् । तानि०॥

ओं शीलेषु यच्च पापकं भाषिते हसिते च यत् । तानि०॥

ओम् आरोकेषु च दन्तेषु हस्तयोः पादयोश्च यत् । तानि०॥

ओम् ऊर्वोरुपस्थे जङ्घयोः सन्धानेषु च यानि ते । तानि०॥

ओं यानि कानि च घोराणि सर्वाङ्गेषु तवाभवन् ।
पूर्णाहुतिभिराज्यस्य सर्वाणि तान्यशीशमं स्वाहा ॥
इदं कन्यायै इदन्न मम ॥

ये ६ छह मन्त्र हैं । इन में से एक-एक मन्त्र बोल, एक-एक से ६ छह आज्याहुति देनी । तत्पश्चात् पृष्ठ २१ में लिखे प्रमाणे **(ओं भूरग्नये स्वाहा)** इत्यादि ४ चार व्याहृति मन्त्रों से ४ चार आज्याहुति देके-

वधू-वर वहां से उठके सभामण्डप के **बाहर उत्तर दिशा में जावें।** तत्पश्चात् **वर**-

ध्रुवं पश्य ॥

ऐसा बोलके **वधू को ध्रुव का तारा दिखलावे**[1] और **वधू** वर से बोले कि मैं-

---

१. हे वधू वा वर ! जैसे यह ध्रुव दृढ़ स्थिर है, इसी प्रकार आप और मैं एक-दूसरे के प्रियाचरणों में दृढ़ स्थिर रहें ।

पश्यामि ॥ ध्रुव के तारे को देखती हूं ।

तत्पश्चात् वधू बोले—

ओं ध्रुवमसि ध्रुवाहं पतिकुले भूयासम् (अमुष्य[१] असौ)॥

इस मन्त्र को बोलके, तत्पश्चात्—

अरुन्धतीं पश्य ॥

ऐसा वाक्य बोलके **वर** वधू को **अरुन्धती का तारा दिखलावे।** और वधू—

पश्यामि ॥ ऐसा कहके—

ओम् अरुन्धत्यसि रुद्धाहमस्मि (अमुष्य[२] असौ) ॥

इस मन्त्र को बोलके वर वधू की ओर देखके वधू के मस्तक पर हाथ धरके—

ओं ध्रुवा द्यौर्ध्रुवा पृथिवी ध्रुवं विश्वमिदं जगत् ।
ध्रुवासः पर्वता इमे ध्रुवा स्त्री पतिकुले इयम्[३] ॥

ओं ध्रुवमसि ध्रुवं त्वा पश्यामि ध्रुवैधि पोष्ये मयि । मह्यं त्वादाद् बृहस्पतिर्मया पत्या प्रजावती सं जीव शरदः शतम्[४] ॥

---

१. (अमुष्य) इस पद के स्थान में षष्ठीविभक्त्यन्त पति का नाम बोलना । जैसे—शिवशर्मा पति का नाम हो, तो ''शिवशर्मणः'' ऐसा, और (असौ) इस पद के स्थान में वधू अपने नाम को प्रथमाविभक्त्यन्त बोलके इस मन्त्र को पूरा बोले । जैसे—''भूयासं सौभाग्यदाहं शिवशर्मणस्ते'' । इस प्रकार दोनों पद जोड़के बोले ।

२. (अमुष्य) इस पद के स्थान में **पति का नाम षष्ठ्यन्त,** और (असौ) इस के स्थान में वधू का प्रथमान्त नाम जोड़कर बोले—हे स्वामिन् ! सौभाग्यदा (अहम्) मैं (अमुष्य) आप शिवशर्मा की अर्धाङ्गी (पतिकुले) आपके कुल में (ध्रुवा) निश्चल जैसे कि आप (ध्रुवम्) दृढ़ निश्चयवाले मेरे स्थिर पति (असि) हैं, वैसे मैं भी आप की स्थिर दृढ़ पत्नी (भूयासम्) होऊँ ।

३. हे वरानने ! जैसे (द्यौः) सूर्य की कान्ति वा विद्युत् (ध्रुवा) सूर्यलोक वा पृथिव्यादि में निश्चल, जैसे (पृथिवी) भूमि अपने स्वरूप में (ध्रुवा) स्थिर, जैसे (इदम्) यह (विश्वम्) सब (जगत्) संसार प्रवाह स्वरूप में (ध्रुवम्) स्थिर है । जैसे (इमे) ये प्रत्यक्ष (पर्वताः) पहाड़ (ध्रुवासः) अपनी स्थिति में स्थिर हैं, वैसे (इयम्) यह तू मेरी (स्त्री) (पतिकुले) मेरे कुल में (ध्रुवा) सदा स्थिर रह ॥

४. हे स्वामिन् ! जैसे आप मेरे समीप (ध्रुवम्) दृढ़ सङ्कल्प करके स्थिर (असि) हैं या जैसे मैं (त्वा) आप को (ध्रुवम्) स्थिर दृढ़ (पश्यामि) देखती हूं वैसे ही सदा के लिये मेरे साथ आप दृढ़ रहियेगा । क्योंकि मेरे मन के अनुकूल (त्वा) आप को (बृहस्पतिः) परमात्मा (अदात्) समर्पित कर चुका

इन दोनों मन्त्रों को बोले ।

पश्चात् वधू और वर दोनों यज्ञकुण्ड के पश्चिम भाग में पूर्वाभिमुख होके कुण्ड के समीप बैठें । और पृष्ठ १८ में लिखे प्रमाणे **(ओम् अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा)** इत्यादि ३ तीन मन्त्रों से एक-एक से एक-एक आचमन करके तीन-तीन **आचमन** दोनों करें । पश्चात् पृष्ठ १९ में लिखी हुई समिधाओं से यज्ञकुण्ड में अग्नि को प्रदीप्त करके, पृष्ठ १३ में लिखे प्रमाणे घृत और स्थालीपाक अर्थात् भात को उसी समय बनावें। पृष्ठ १९ में लिखे प्रमाणे **(ओम् अयन्त इध्म०)** इत्यादि ४ चार मन्त्रों से **समिधा होम** दोनों जने करके, पश्चात् पृष्ठ २०-२१ में लिखे प्रमाणे **आघारावाज्यभागाहुति** ४ चार और पृष्ठ २१ में लिखे प्रमाणे **व्याहृति आहुति** ४ चार, दोनों मिलके ८ आठ आज्याहुति वर-वधू देवें।

तत्पश्चात् जो ऊपर सिद्ध किया हुआ ओदन, अर्थात् भात, उस को एक पात्र में निकालके उस के ऊपर **स्रुवा से घृत सेचन करके,** घृत और भात को अच्छे प्रकार मिलाकर दक्षिण हाथ से थोड़ा-थोड़ा भात **दोनों जने लेके**-

ओम् अग्नये स्वाहा ॥ इदमग्नये इदन्न मम ॥

ओं प्रजापतये स्वाहा ॥ इदं प्रजापतये इदन्न मम ॥

ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा ॥

इदं विश्वेभ्यो देवेभ्यः इदन्न मम ॥

ओम् अनुमतये स्वाहा ॥ इदमनुमतये इदन्न मम ॥

इन में से प्रत्येक मन्त्र से एक-एक करके ४ चार स्थालीपाक अर्थात् **भात की आहुति** देनी । तत्पश्चात् पृष्ठ २१ में लिखे प्रमाणे **(ओं यदस्य कर्मणो०)** इस मन्त्र से १ एक **स्विष्टकृत् आहुति** देनी । तत्पश्चात् पृष्ठ २१ में लिखे प्रमाणे **व्याहृति आहुति** ४ चार और पृष्ठ २२-२३ में लिखे प्रमाणे **अष्टाज्याहुति** ८ आठ, दोनों मिलके १२ बारह आज्याहुति देनी ।

है । वैसे मुझ पत्नी के साथ उत्तम प्रजायुक्त होके (शतं शरदः) सौ वर्ष पर्यन्त (सम् जीव) जीविये तथा हे वरानने पत्नी ! (पोष्ये) धारण और पालन करने योग्य (मयि) मुझ पति के निकट (ध्रुवा) स्थिर (एधि) रह । (मह्यम्) मुझ को अपनी मनसा के अनुकूल तुझे परमात्मा ने दिया है । तू (मया) मुझ (पत्या) पति के साथ (प्रजावती) बहुत उत्तम प्रजायुक्त होकर सौ वर्ष पर्यन्त आनन्दपूर्वक जीवन धारण कर । वधू-वर ऐसी दृढ़ प्रतिज्ञा करें कि जिस से कभी उलटे विरोध में न चलें ।।

तत्पश्चात् शेष रहा हुआ भात एक पात्र में निकालके उस पर घृत-सेचन और दक्षिण हाथ रखके-

ओम् अन्नपाशेन मणिना प्राणसूत्रेण पृश्निना ।
बध्नामि सत्यग्रन्थिना मनश्च हृदयं च ते[1] ॥१॥
ओं यदेतद्धृदयं तव तदस्तु हृदयं मम ।
यदिदꣳ हृदयं मम तदस्तु हृदयं तव[2] ॥२॥
ओम् अन्नं प्राणस्य षड्विꣳशस्तेन बध्नामि त्वा असौ[3] ॥३॥

इन तीनों मन्त्रों को मन से जपके **वर उस भात में से प्रथम थोड़ा सा भक्षण करके, जो उच्छिष्ट शेष भात रहे वह अपनी वधू के लिये खाने को देवे ।** और जब वधू उस को खा चुके, तब वधू-वर यज्ञ-मण्डप में सन्नद्ध हुए शुभासन पर नियम प्रमाणे पूर्वाभिमुख बैठें और पृष्ठ २३-२४ में लिखे प्रमाणे सामवेदोक्त महावामदेव्यगान करें।

तत्पश्चात् पृष्ठ ४-११ में लिखे प्रमाणे **ईश्वर की स्तुतिप्रार्थनोपासना, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण** कर्म करके क्षार लवण रहित मिष्ट, दुग्ध, घृतादिसहित भोजन करें ।

तत्पश्चात् पृष्ठ २३, २४ में लिखे प्रमाणे पुरोहितादि सद्धर्मी और कार्यार्थ इकट्ठे हुए लोगों को सम्मानार्थ उत्तम भोजन कराना ।

तत्पश्चात् यथायोग्य पुरुषों का पुरुष और स्त्रियों का स्त्री आदर-सत्कार करके विदा कर देवें ।

तत्पश्चात् दश घटिका रात जाय, तब वधू और वर पृथक्-पृथक् स्थान में भूमि में बिछौना करके तीन रात्रिपर्यन्त ब्रह्मचर्य व्रत सहित रहकर शयन करें और ऐसा भोजन करें कि स्वप्न में भी वीर्यपात न

---

१. हे वधू वा वर ! जैसे अन्न के साथ प्राण, प्राण के साथ अन्न तथा अन्न और प्राण का अन्तरिक्ष के साथ सम्बन्ध है, वैसे (ते) तेरे (हृदयम्) हृदय (च) और (मनः) मन (च) और चित्त आदि को (सत्यग्रन्थिना) सत्यता की गांठ से (बध्नामि) बांधती वा बांधता हूं ॥१॥
२. हे वर ! हे स्वामिन् वा पत्नी ! (यदेतत्) जो यह (तव) तेरा (हृदयम्) आत्मा वा अन्तःकरण है, (तत्) वह (मम) मेरा (हृदयम्) आत्मा अन्तःकरण के तुल्य प्रिय (अस्तु) हो । और (मम) मेरा (यदिदम्) जो यह (हृदयम्) आत्मा प्राण और मन है, (तत्) सो (तव) तेरे (हृदयम्) आत्मादि के तुल्य प्रिय (अस्तु) सदा रहे ॥२॥
३. (असौ) हे यशोदे ! जो (प्राणस्य) प्राण का पोषण करनेहारा (षड्विंशः) २६ छब्बीसवाँ तत्त्व (अन्नम्) अन्न है, (तेन) उससे (त्वा) तुझ को (बध्नामि) दृढ़ प्रीति से बांधता वा बांधती हूं ॥३॥

होवे । तत्पश्चात् चौथे दिवस विधिपूर्वक गर्भाधानसंस्कार करे । यदि चौथे दिवस कोई अड़चन आवे तो अधिक दिन ब्रह्मचर्यव्रत में दृढ़ रह कर जिस दिन दोनों की इच्छा हो, और पृष्ठ २७-२८ में लिखे प्रमाणे गर्भाधान की रात्रि भी हो, उस रात्रि में यथाविधि गर्भाधान करें ।

तत्पश्चात् दूसरे वा तीसरे दिन प्रातःकाल वर पक्षवाले लोग वधू और वर को रथ में बैठाके बड़े सम्मान से अपने घर में लावें और जो वधू अपने माता-पिता के घर को छोड़ते समय आँख में अश्रु भर लावे तो—

जीवं रुदन्ति वि मयन्ते अध्वरे दीर्घामनु प्रसितिं दीधियुर्नरः ।
वामं पितृभ्यो य इदं समेरिरे मयः पतिभ्यो जनयः परिष्वजे ॥

इस मन्त्र को वर बोले । और रथ में बैठते समय वर अपने साथ दक्षिण बाजू वधू को बैठावे । उस समय में वर—

पूषा त्वेतो नयतु हस्तगृह्याश्विना त्वा प्र वहतां रथेन ।
गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासो वशिनी त्वं विदथमा वदासि ॥१॥
सुकिंशुकंशल्मलिं विश्वरूपं हिरण्यवर्णंसुवृतंसुचक्रम् ।
आ रोह सूर्ये अमृतस्य लोकं स्योनं पत्ये वहतुं कृणुष्व॥२॥

इन दो मन्त्रों को बोलके रथ को चलावे ।

यदि वधू को वहां से अपने घर लाने के समय नौका पर बैठना पड़े तो इस निम्नलिखित मन्त्र को पूर्व बोलके नौका पर बैठें—

अश्मन्वती रीयते सं रभध्वमुत्तिष्ठत प्र तरता सखायः ।

और नाव से उतरते समय—

अत्रा जहाम ये असन्नशेवाः शिवान्वयमुत्तरेमाभि वाजान्॥

इस उत्तरार्द्ध मन्त्र को बोलके नाव से उतरें ।

पुनः इसी प्रकार मार्ग में चार मार्गों का संयोग, नदी, व्याघ्र, चोर आदि से भय वा भयङ्कर स्थान, ऊंचे-नीचे खाढ़ावाली पृथिवी, बड़े-बड़े वृक्षों का झुण्ड वा श्मशान भूमि आवे, तो—

मा विदन् परिपन्थिनो य आसीदन्ति दम्पती ।
सुगेभिर्दुर्गमतीतामप द्रान्त्वरातयः ॥

इस मन्त्र को बोले ।

तत्पश्चात् वधू-वर जिस रथ में बैठके जाते हों, उस रथ का कोई अङ्ग टूट जाय, अथवा किसी प्रकार का अकस्मात् उपद्रव होवे तो मार्ग में कोई अच्छा स्थान देखके निवास करना । और साथ रक्खे हुए

विवाहाग्नि को प्रकट करके उस में पृष्ठ २१ में लिखे प्रमाणे ४ चार **व्याहृति आज्याहुति** देनी । पश्चात् पृष्ठ २३-२४ में लिखे प्रमाणे वामदेव्यगान करना ।

पश्चात् जब वधू-वर का रथ वर के घर के आगे आ पहुँचे, तब **कुलीन, पुत्रवती, सौभाग्यवती वा कोई ब्राह्मणी वा अपने कुल की स्त्री** आगे-सामने आकर वधू का हाथ पकड़के वर के साथ रथ से नीचे उतारे और वर के साथ सभामण्डप में ले जावे । सभामण्डप द्वारे आते ही **वर** वहां कार्यार्थ आये हुए लोगों की ओर अवलोकन करके—

सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत ।
सौभाग्यमस्यै दत्त्वा याऽथास्तं वि परेतन ॥

इस मन्त्र को बोले । और आये हुए लोग—

ओं सौभाग्यमस्तु । ओं शुभं भवतु ॥

इस प्रकार आशीर्वाद देवें । तत्पश्चात् वर—

इह प्रियं प्रजया ते समृध्यतामस्मिन् गृहे गार्हपत्याय जागृहि ।
एना पत्या तन्वं१ सं सृजस्वाऽधा जिव्री विदथमा वदाथः ॥

इस मन्त्र को बोलके वधू को सभामण्डप में ले जावे ।

तत्पश्चात् वधू-वर पूर्व-स्थापित यज्ञकुण्ड के समीप जावें । उस समय **वर**—

ओम् इह गावः प्रजायध्वमिहाश्वा इह पूरुषाः ।
इहो सहस्रदक्षिणोऽपि पूषा नि षीदतु ॥

इस मन्त्र को बोलके यज्ञकुण्ड के पश्चिम भाग में पीठासन अथवा तृणासन पर वधू को अपने दक्षिण भाग में पूर्वाभिमुख बैठावे ।

तत्पश्चात् पृष्ठ १८ में लिखे प्रमाणे (ओम् अमृतोपस्तरणमसि) इत्यादि ३ तीन मन्त्रों से एक-एक से एक-एक करके तीन-तीन आचमन करें । तत्पश्चात् पृष्ठ १९ में लिखे प्रमाणे कुण्ड में यथाविधि समिधा-चयन, अग्न्याधान करें । जब उसी कुण्ड में अग्नि प्रज्वलित हो, तब उस पर घृत सिद्ध करके पृष्ठ १९ में लिखे प्रमाणे समिदाधान करके प्रदीप्त हुए अग्नि में पृष्ठ २१-२३ में लिखे प्रमाणे आघारावाज्यभागाहुति ४ चार और व्याहृति आहुति ४ चार, अष्टाज्याहुति ८ आठ, सब मिलके १६ सोलह आज्याहुति वधू-वर करके प्रधानहोम का प्रारम्भ निम्नलिखित मन्त्रों से करें—

ओम् इह धृतिः स्वाहा ॥ इदमिह धृत्यै इदन्न मम ॥

ओम् इह स्वधृतिः स्वाहा ॥ इदमिह स्वधृत्यै इदन्न मम ॥
ओम् इह रन्तिः स्वाहा ॥ इदमिह रन्त्यै इदन्न मम ॥
ओम् इह रमस्व स्वाहा ॥ इदमिह रमाय इदन्न मम ॥
ओम् मयि धृतिः स्वाहा ॥ इदं मयि धृत्यै इदन्न मम ॥
ओम् मयि स्वधृतिः स्वाहा ॥ इदं मयि स्वधृत्यै इदन्न मम॥
ओम् मयि रमः स्वाहा ॥ इदं मयि रमाय इदन्न मम ॥
ओम् मयि रमस्व स्वाहा ॥ इदं मयि रमाय इदन्न मम ॥

इन प्रत्येक मन्त्रों से एक-एक करके ८ आठ आज्याहुति देके—

ओम् आ नः प्रजां जनयतु प्रजापतिराजरसाय समनक्त्वर्यमा। अदुर्मङ्गलीः पतिलोकमा विश शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे स्वाहा[1] ॥ इदं सूर्यायै सावित्र्यै इदन्न मम ॥१॥

ओम् अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्चाः। वीरसूर्देवृकामा स्योना शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे स्वाहा[2] ॥ इदं सूर्यायै सावित्र्यै इदन्न मम ॥२॥

ओम् इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु । दशास्यां पुत्राना धेहि पतिमेकादशं कृधि स्वाहा[3] ॥ इदं सूर्यायै सावित्र्यै इदन्न मम ॥३॥

---

१. हे वधू ! (अर्यमा) न्यायकारी दयालु (प्रजापतिः) परमात्मा कृपा करके (आजरसाय) जरावस्था-पर्यन्त जीने के लिये (नः) हमारी (प्रजाम्) उत्तम प्रजा को शुभ गुण, कर्म और स्वभाव से (आजनयतु) प्रसिद्ध करे, (समनक्तु) उस से उत्तम सुख को प्राप्त करे, और वे शुभगुणयुक्त (मङ्गलीः) स्त्रीलोग सब कुटुम्बियों को आनन्द (अदुः) देवें, उन में से एक तू हे वरानने ! (पतिलोकम्) पति के घर वा सुख को (आविश) प्रवेश वा प्राप्त हो । (नः) हमारे (द्विपदे) पिता आदि मनुष्यों के लिए (शम्) सुखकारिणी और (चतुष्पदे) गौ आदि को (शम्) सुखकर्त्ता (भव) हो ॥१॥
२. इस मन्त्र का अर्थ पृष्ठ ११२ में लिखे प्रमाणे जानना ॥२॥
३. ईश्वर पुरुष और स्त्री को आज्ञा देता है कि हे (मीढ्वः) वीर्य-सेचन करनेहारे (इन्द्र) परमैश्वर्ययुक्त इस वधू के स्वामिन् ! (त्वम्) तू (इमाम्) इस वधू को (सुपुत्राम्) उत्तम पुत्रयुक्त (सुभगाम्) सुन्दर सौभाग्य भोगवाली (कृणु) कर । (अस्याम्) इस वधू में (दश) दश (पुत्रान्) पुत्रों को (आधेहि) उत्पन्न कर, अधिक नहीं । और हे स्त्री ! तू भी अधिक कामना मत कर, किन्तु दश पुत्र और (एकादशम्) ग्यारहवें (पतिम्) पति को प्राप्त होकर सन्तोष (कृधि) कर । यदि इस से आगे सन्तानोत्पत्ति का लोभ करोगे

ओं सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव । ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवृषु स्वाहा[१] ॥ इदं सूर्यायै सावित्र्यै इदन्न मम ॥४॥

इन ४ चार मन्त्रों से एक-एक से एक-एक करके ४ चार **आज्याहुति** देके, पृष्ठ २१ में लिखे प्रमाणे **स्विष्टकृत्** होमाहुति १ एक, **व्याहृति** आज्याहुति ४ चार और **प्राजापत्याहुति** १ एक, ये सब मिलके ६ छह आज्याहुति देकर–

समञ्जन्तु विश्वे देवाः समापो हृदयानि नौ ।
सं मातरिश्वा सं धाता समु देष्ट्री दधातु नौ[२] ॥

इस मन्त्र को बोलके दोनों **दधिप्राशन** करें ।

तत्पश्चात्–

अहं भो अभिवादयामि[३] ॥

इस वाक्य को बोलके दोनों वधू-वर, वर की माता-पिता आदि

तो तुम्हारे दुष्ट अल्पायु निर्बुद्धि सन्तान होंगे । और तुम भी अल्पायु रोगग्रस्त हो जाओगे । इसलिये अधिक सन्तानोत्पत्ति न करना ।।

तथा (पतिमेकादशं कृधि) इस पाद का अर्थ नियोग में दूसरा होगा–अर्थात् जैसे पुरुष को विवाहित स्त्री में दश पुत्र उत्पन्न करने की आज्ञा परमात्मा की है, वैसी ही आज्ञा स्त्री को भी है कि दश पुत्र तक चाहे विवाहित पति से अथवा विधवा हुए पश्चात् नियोग से करे करावे । वैसे ही एक स्त्री के लिये एक पति से एक वार विवाह, और पुरुष के लिये भी एक स्त्री से एक ही वार विवाह करने की आज्ञा है । जैसे विधवा हुए पश्चात् स्त्री नियोग से सन्तानोत्पत्ति करके पुत्रवती होवे, वैसे पुरुष भी विगतस्त्री होवे तो नियोग से पुत्रवान् होवे ।।३।।

१. हे वरानने ! तू (श्वशुरे) मेरा पिता जो कि तेरा श्वशुर है, उस में प्रीति करके (सम्राज्ञी) सम्यक् प्रकाशमान चक्रवर्ती राजा की राणी के समान पक्षपात छोड़के प्रवृत्त (भव) हो । (श्वश्र्वाम्) मेरी माता जो कि तेरी सासु है, उस में प्रेमयुक्त होके उसी की आज्ञा में (सम्राज्ञी) सम्यक् प्रकाशमान (भव) रहा कर । (ननान्दरि) जो मेरी बहिन और तेरी ननन्द है, उस में भी (सम्राज्ञी) प्रीतियुक्त और (देवृषु) मेरे भाई जो तेरे देवर और ज्येष्ठ अथवा कनिष्ठ हैं, उन में भी (सम्राज्ञी) प्रीति से प्रकाशमान (अधि भव) अधिकारयुक्त हो, अर्थात् सब से अविरोधपूर्वक प्रीति से वर्ता कर ।।४।।

२. इस मन्त्र का अर्थ पृष्ठ ११२ में लिखे प्रमाणे समझ लेना ।।

३. इस से उत्तम 'नमस्ते' यह वेदोक्त वाक्य अभिवादन के लिए नित्यप्रति स्त्री-पुरुष, पिता-पुत्र अथवा गुरु-शिष्य आदि के लिए है। प्रातः सायम् अपूर्व समागम में जब-जब मिलें, तब-तब इसी वाक्य से परस्पर वन्दन करें ।।

वृद्धों को प्रीतिपूर्वक नमस्कार करें ।

पश्चात् सुभूषित होकर शुभासन पर बैठके पृष्ठ २३-२४ में लिखे प्रमाणे वामदेव्यगान करके, **उसी समय पृष्ठ ४-६ में लिखे प्रमाणे ईश्वरोपासना करनी** । उस समय कार्यार्थ आये हुए सब स्त्री-पुरुष ध्यानावस्थित होकर परमेश्वर का ध्यान करें ।

तथा वधू-वर, पिता, आचार्य और पुरोहित आदि को कहें कि-

ओं स्वस्ति भवन्तो ब्रुवन्तु ॥

आप लोग स्वस्तिवाचन करें ।

तत्पश्चात् पिता, आचार्य, पुरोहित जो विद्वान् हों, अथवा उन के अभाव में यदि वधू-वर विद्वान् वेदवित् हों तो वे ही दोनों पृ० ७-११ में लिखे प्रमाणे **स्वस्तिवाचन का पाठ** बड़े प्रेम से करें ।

पाठ हुए पश्चात् कार्यार्थ आये हुए स्त्री-पुरुष सब-

ओं स्वस्ति ओं स्वस्ति ओं स्वस्ति ॥

इस वाक्य को बोलें ।

तत्पश्चात् कार्यकर्त्ता, पिता, चाचा, भाई आदि पुरुषों को तथा माता, चाची, भगिनी आदि स्त्रियों को यथावत् सत्कार करके विदा करें ।

तत्पश्चात् यदि किसी विशेष कारण से श्वशुरगृह में गर्भाधान-संस्कार न हो सके तो वधू-वर क्षार-आहार और विषय-तृष्णारहित व्रतस्थ होके पृष्ठ २७-२८ में लिखे प्रमाणे विवाह के चौथे दिवस में गर्भाधान संस्कार करें । अथवा उस दिन ऋतुकाल न हो, तो किसी दूसरे दिन गर्भस्थापन करें और जो वर दूसरे देश से विवाह के लिए आया हो तो वह जहाँ जिस स्थान में विवाह करने के लिये जाकर उतरा हो, उसी स्थान में गर्भाधान करे ।

पुनः अपने घर आके पति, सासु, स्वशुर, ननन्द, देवर देवराणी, ज्येष्ठ-जेठानी आदि कुटुम्ब के मनुष्य वधू की पूजा, अर्थात् सत्कार करें। सदा प्रीतिपूर्वक परस्पर वर्त्तें और मधुरवाणी, वस्त्र, आभूषण आदि से सदा प्रसन्न और सन्तुष्ट वधू को रक्खें तथा वधू भी सब को प्रसन्न रक्खे और वर उस वधू के साथ पत्नीव्रतादि सद्धर्म से वर्ते तथा पत्नी भी पति के साथ पतिव्रतादि सद्धर्म चाल-चलन से सदा पति की आज्ञा में तत्पर और उत्सुक रहे तथा वर भी स्त्री की सेवा-प्रसन्नता में तत्पर रहे ॥

॥ इति विवाहसंस्कारविधिः समाप्तः ॥

[१३]

अथ गृहाश्रमसंस्कारविधिं वक्ष्यामः

'गृहाश्रम-संस्कार' उस को कहते हैं कि जो **ऐहिक और पारलौकिक सुख-प्राप्ति के लिए विवाह करके अपने सामर्थ्य के अनुसार परोपकार करना और नियत काल में यथाविधि ईश्वरोपासना और गृहकृत्य करना और सत्य धर्म में ही अपना तन, मन, धन लगाना तथा धर्मानुसार सन्तानों की उत्पत्ति करनी ।**

अत्र प्रमाणानि–

सोमो॑ वधूयुर॑भवद् अ॒श्विना॑स्तामु॒भा व॒रा ।
सू॒र्यां यत्पत्ये॒ शंस॑न्तीं॒ मन॑सा स॒वि॒ता द॑दात् ॥१॥
इ॒हैव स्तं॒ मा वि यौ॑ष्टं॒ विश्व॒मायु॒र्व्य॑श्नुतम् ।
क्रीड॑न्तौ पु॒त्रैर्नप्तृ॑भि॒र्मोद॑मानौ स्वस्त॒कौ ॥२॥

अर्थः–(सोमः) सुकुमार शुभगुणयुक्त, (वधूयुः) वधू की कामना करनेहारा पति तथा वधू पति की कामना करनेहारी (अश्विना) दोनों ब्रह्मचर्य से विद्या को प्राप्त (अभवत्) होवें और (उभा) दोनों (वरा) श्रेष्ठ तुल्य गुण, कर्म, स्वभाववाले (आस्ताम्) होवें । ऐसी (यत्) जो (सूर्याम्) सूर्य की किरणवत् सौन्दर्य गुणयुक्त, (पत्ये) पति के लिये (मनसा) मन से (शंसन्तीम्) गुण-कीर्त्तन करनेवाली वधू है उस को पुरुष और इसी प्रकार के पुरुष को स्त्री (सविता) सकल जगत् का उत्पादक परमात्मा (ददात्) देता है, अर्थात् **बड़े भाग्य से दोनों स्त्री-पुरुषों का, जो कि तुल्य गुण, कर्म, स्वभाव हों, जोड़ा मिलता है ॥१॥**

हे स्त्रि और पुरुष ! मैं परमेश्वर आज्ञा देता हूं कि जो तुम्हारे लिये पूर्व विवाह में प्रतिज्ञा हो चुकी है, जिस को तुम दोनों ने स्वीकार किया है, (इहैव) इसी में (स्तम्) तत्पर रहो, (मा वियौष्टम्) इस प्रतिज्ञा से वियुक्त मत होओ । (विश्वमायुर्व्यश्नुतम्) ऋतुगामी होके वीर्य का अधिक नाश न करके सम्पूर्ण आयु, जो १०० सौ वर्षों से कम नहीं है, उस को प्राप्त होओ और पूर्वोक्त धर्मरीति से (पुत्रैः) पुत्रों और (नप्तृभिः) नातियों के साथ (क्रीडन्तौ) क्रीड़ा करते हुए (स्वस्तकौ) उत्तम गृहवाले (मोदमानौ) आनन्दित होकर गृहाश्रम में प्रीतिपूर्वक वास करो ॥२॥

सुमङ्गली प्रतरणी गृहाणां सुशेवा पत्ये श्वशुराय शम्भूः ।
स्योना श्वश्र्वै प्र गृहान् विशेमान् ॥३॥
स्योना भव श्वशुरेभ्यः स्योना पत्ये गृहेभ्यः ।
स्योनास्यै सर्वस्यै विशे स्योना पुष्टायैषां भव ॥४॥
या दुर्हार्दो युवतयो याश्चेह जरतीरपि ।
वर्चो न्वस्यै सं दत्ताथास्तं विपरेतन ॥५॥
आ रोह तल्पं सुमनस्यमानेह प्रजां जनय पत्ये अस्मै ।
इन्द्राणीव सुबुधा बुध्यमाना ज्योतिरग्रा उषसः प्रति जागरासि ॥६॥

अर्थः—हे वरानने ! तू (सुमङ्गली) अच्छे मङ्गलाचरण करने तथा (प्रतरणी) दोष और शोकादि से पृथक् रहनेहारी, (गृहाणाम्) गृह-कार्यों में चतुर और तत्पर रहकर (सुशेवा) उत्तम सुखयुक्त होके (पत्ये) पति (श्वशुराय) श्वशुर और श्वश्र्वै) सासु के लिए (शम्भूः) सुखकर्त्री और (स्योना) स्वयं प्रसन्न हुई (इमान्) इन (गृहान्) घरों में सुखपूर्वक (प्रविश) प्रवेश कर ॥३॥

हे वधू ! तू (श्वशुरेभ्यः) श्वशुरादि के लिये (स्योना) सुखदाता, (पत्ये) पति के लिये (स्योना) सुखदाता, और (गृहेभ्यः) गृहस्थ सम्बन्धियों के लिये (स्योना) सुखदायक (भव) हो । और (अस्यै) इस (सर्वस्यै) सब (विशे) प्रजा के अर्थ (स्योना) सुखप्रद, और (एषाम्) इन के (पुष्टाय) पोषण के अर्थ तत्पर (भव) हो ॥४॥

(याः) जो (दुर्हार्दः) दुष्ट हृदयवाली अर्थात् दुष्टात्मा (युवतयः) जवान स्त्रियां, (च) और (याः) जो (इह) इस स्थान में (जरतीः) बुड्ढी=वृद्ध दुष्ट स्त्रियां हों, वे (अपि) भी (अस्यै) इस वधू को (नु) शीघ्र (वर्चः) तेज (सं दत्त) देवें । (अथ) इसके पश्चात् (अस्तम्) अपने-अपने घरों को (विपरेतन) चली जावें, और फिर इस के पास कभी न आवें ॥५॥

हे वरानने ! तू (सुमनस्यमाना) प्रसन्नचित्त होकर (तल्पम्) पर्यङ्क पर (आरोह) चढ़के शयन कर । और (इह) इस गृहाश्रम में स्थिर रहकर (अस्मै) इस (पत्ये) पति के लिये (प्रजां जनय) प्रजा को उत्पन्न कर । (सुबुधा) सुन्दर ज्ञानी (बुध्यमाना) उत्तम शिक्षा को प्राप्त (इन्द्राणीव) सूर्य की कान्ति के समान तू (उषसः) उषःकाल से (अग्रा) पहली (ज्योतिः) ज्योति के तुल्य (प्रति जागरासि) प्रत्यक्ष सब कामों में जागती रह ॥६॥

देवा अग्रे न्यपिद्यन्त पत्नीः समस्पृशन्त तन्वस्तनूभिः ।
सूर्येव नारि विश्वरूपा महित्वा प्रजावती पत्या सं भवेह ॥७॥
सं पितरावृत्विये सृजेथां माता पिता च रेतसो भवाथः ।
मर्य इव योषामधि रोहयैनां प्रजां कृण्वाथामिह पुष्यतं रयिम् ॥८॥
तां पूषञ्छिवतमामेरयस्व यस्यां बीजं मनुष्या३ वपन्ति ।
या न ऊरू उशती विश्रयाति यस्यामुशन्तः प्रहरेम शेपः ॥९॥

अर्थः—हे सौभाग्यप्रदे (नारि) तू जैसे (इह) इस गृहाश्रम में (अग्रे) प्रथम (देवाः) विद्वान् लोग (पत्नीः) उत्तम स्त्रियों को (न्यपद्यन्त) प्राप्त होते हैं, और (तनूभिः) शरीरों से (तन्वः) शरीरों को (समस्पृशन्त) स्पर्श करते हैं, वैसे (विश्वरूपा) विविध सुन्दररूप को धारण करनेहारी, (महित्वा) सत्कार को प्राप्त होके (सूर्येव) सूर्य की कान्ति के समान (पत्या) अपने स्वामी के साथ मिलके (प्रजावती) प्रजा को प्राप्त होनेहारी (सम्भव) अच्छे प्रकार हो ॥७॥

हे स्त्रीपुरुषो ! तुम (पितरौ) बालकों के जनक (ऋत्विये) ऋतुसमय में सन्तानों को (संसृजेथाम्) अच्छे प्रकार उत्पन्न करो । (माता) जननी (च) और (पिता) जनक दोनों (रेतसः) वीर्य को मिलाकर गर्भाधान करनेहारे (भवाथः) हूजिये। हे पुरुष ! (एनाम्) इस (योषाम्) अपनी स्त्री को (मर्य इव) प्राप्त होनेवाले पति के समान (अधि रोहय) सन्तानों से बढ़ा । और दोनों (इह) इस गृहाश्रम में मिलके (प्रजाम्) प्रजा को (कृण्वाथाम्) उत्पन्न करो । (पुष्यतम्) पालन-पोषण करो, और पुरुषार्थ से (रयिम्) धन को प्राप्त होओ ॥८॥

हे (पूषन्) वृद्धिकारक पुरुष ! (यस्याम्) जिस में (मनुष्याः) मनुष्य लोग (बीजम्) वीर्य को (वपन्ति) बोते हैं, (या) जो (नः) हमारी (उशती) कामना करती हुई (ऊरू) ऊरू को सुन्दरता से (विश्रयाति) विशेषकर आश्रय करती है, (यस्याम्) जिस में (उशन्तः) सन्तानों की कामना करते हुए हम (शेपः) उपस्थेन्द्रिय का (प्रहरेम) प्रहरण करते हैं, (ताम्) उस (शिवतमाम्) अतिशय कल्याण करनेहारी स्त्री को सन्तानोत्पत्ति के लिये (एरयस्व) प्रेम से प्रेरणा कर ॥९॥

स्योनाद् योनेरधि बुध्यमानौ हसामुदौ महसा मोदमानौ ।
सुगू सुपुत्रौ सुगृहौ तराथो जीवावुषसो विभातीः ॥१०
इहेमाविन्द्र सं नुद चक्रवाकेव दम्पती ।
प्रजयैनौ स्वस्तकौ विश्वमायुर्व्यश्नुताम् ॥११॥

जुनियन्ति नावग्रवः पुत्रियन्ति सुदानवः ।
अरिष्टासू सचेवहि बृहते वाजसातये ॥१२॥

अर्थः—हे स्त्रि और पुरुष ! जैसे सूर्य (विभातीः) सुन्दर प्रकाशयुक्त (उषसः) प्रभात वेला को प्राप्त होता है, वैसे (स्योनात्) सुख से (योनेः) घर के मध्य में (अधि बुध्यमानौ) सन्तानोत्पत्ति आदि की क्रिया को अच्छे प्रकार जाननेहारे, सदा (हसामुदौ) हास्य और आनन्दयुक्त, (महसा) बड़े प्रेम से (मोदमानौ) अत्यन्त प्रसन्न हुए, (सुगू) उत्तम चाल चलने से धर्मयुक्त व्यवहार में अच्छे प्रकार चलनेहारे, (सुपुत्रौ) उत्तम पुत्रवाले, (सुगृहौ) श्रेष्ठ गृहादि सामग्रीयुक्त (जीवौ) उत्तम प्रकार जीवों को धारण करते हुए (तराथः) गृहाश्रम के व्यवहारों के पार होओ ॥१०॥

हे (इन्द्र) परमैश्वर्ययुक्त विद्वन् राजन् ! आप (इह) इस संसार में (इमौ) इन स्त्रीपुरुषों को समय पर विवाह करने को आज्ञा और ऐसी व्यवस्था दीजिये कि जिस से कोई स्त्री-पुरुष पृष्ठ ७९-८२ में लिखे प्रमाण से पूर्व वा अन्यथा विवाह न कर सकें, वैसे (सं नुद) सब को प्रसिद्धि से प्रेरणा कीजिए जिस से ब्रह्मचर्यपूर्वक शिक्षा को पाके (दम्पती) जाया और पति (चक्रवाकेव) चकवा चकवी के समान एक-दूसरे से प्रेमबद्ध रहें। और गर्भाधानसंस्कारोक्तविधि से (प्रजया) उन्नत हुई प्रजा से (एनौ) ये दोनों (स्वस्तकौ) सुखयुक्त होके (विश्वम्) **सम्पूर्ण १०० सौ वर्षपर्यन्त (आयुः) आयु को (व्यश्नुताम्) प्राप्त होवें** ॥११॥

हे मनुष्यो ! जैसे (सुदानवः) विद्यादि उत्तम गुणों के दान करनेहारे (अग्रवः) उत्तम स्त्री-पुरुष (जनियन्ति) पुत्रोत्पत्ति करते और (पुत्रीयन्ति) पुत्र की कामना करते हैं, वैसे (नौ) हमारे भी सन्तान उत्तम होवें । तथा (अरिष्टासू) बल, प्राण का नाश न करनेहारे होकर (बृहते) बड़े (वाजसातये) परोपकार के अर्थ विज्ञान और अन्न आदि के दान के लिए (सचेवहि) कटिबद्ध सदा रहें, जिस से हमारे सन्तान भी उत्तम होवें ॥१२॥

प्र बुध्यस्व सुबुधा बुध्यमाना दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ।
गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासो दीर्घं त आयुः सविता कृणोतु ॥१३॥
सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः ।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥१४॥

अर्थः—हे पत्नी ! तू (शतशारदाय) शतवर्ष पर्यन्त (दीर्घायुत्वाय) दीर्घकाल जीने के लिए (सुबुधा) उत्तम बुद्धियुक्त, (बुध्यमाना) सज्ञान होकर (गृहान्) मेरे घरों को (गच्छ) प्राप्त हो और (गृहपत्नी) मुझ घर

के स्वामी की स्त्री (यथा) जैसे (ते) तेरा (दीर्घम्) दीर्घकाल-पर्यन्त (आयुः) जीवन (आसः) होवे, वैसे (प्रबुध्यस्व) प्रकृष्ट ज्ञान और उत्तम व्यवहार को यथावत् जान । इस अपनी आशा को (सविता) सब जगत् की उत्पत्ति और सम्पूर्ण ऐश्वर्य को देनेहारा परमात्मा (कृणोतु) अपनी कृपा से सदा सिद्ध करे । जिस से तू और मैं सदा उन्नतिशील होकर आनन्द में रहें ।।१३।।

हे गृहस्थो ! मैं ईश्वर तुम को जैसी आज्ञा देता हूं, वैसा ही वर्तमान करो, जिस से तुम को अक्षय सुख हो । अर्थात् (वः) तुम्हारा (सहृदयम्) जैसी अपने लिए सुख की इच्छा करते और दुःख नहीं चाहते हो, वैसे माता-पिता सन्तान स्त्री-पुरुष भृत्य मित्र पाड़ोसी और अन्य सब से समान हृदय रहो । (सांमनस्यम्) मन से सम्यक् प्रसन्नता, और (अविद्वेषम्) वैर-विरोधादिरहित व्यवहार को तुम्हारे लिये (कृणोमि) स्थिर करता हूं । तुम (अघ्न्या) हनन न करने योग्य गाय (वत्सं जातमिव) उत्पन्न हुए बछड़े पर वात्सल्यभाव से जैसे वर्तती है, वैसे (अन्यो अन्यम्) एक-दूसरे से (अभि हर्यत) प्रेमपूर्वक कामना से वर्त्ता करो ।।१४।।

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः ।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवान् ।।१५।।
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा ।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ।।१६।।

अर्थः—हे गृहस्थो ! जैसे तुम्हारा (पुत्रः) पुत्र (मात्रा) माता के साथ (संमनाः) प्रीतियुक्त मनवाला, (अनुव्रतः) अनुकूल आचरणयुक्त, (पितुः) और पिता के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार का प्रेमवाला (भवतु) होवे, वैसे तुम भी पुत्रों के साथ सदा वर्त्ता करो । जैसे (जाया) स्त्री (पत्ये) पति की प्रसन्नता के लिये (मधुमतीम्) माधुर्यगुणयुक्त (वाचम्) वाणी को (वदतु) कहे, वैसे पति भी (शन्तिवान्) शान्त होकर अपनी पत्नी से सदा मधुर भाषण किया करे ।।१५।।

हे गृहस्थो ! तुम्हारे में (भ्राता) भाई (भ्रातरम्) भाई के साथ (मा द्विक्षन्) द्वेष कभी न करे । (उत) और (स्वसा) बहिन (स्वसारम्) बहिन से द्वेष कभी (मा) न करे । तथा बहिन भाई भी परस्पर द्वेष मत करो, किन्तु (सम्यञ्चः) सम्यक् प्रेमादि गुणों से युक्त (सव्रताः) समान गुण, कर्म, स्वभाववाले (भूत्वा) होकर (भद्रया) मङ्गलकारक रीति से एक-दूसरे के साथ (वाचम् सुखदायक वाणी को (वदत) बोला करो ।।१६।।

येन॑ दे॒वा न वि॒यन्ति॒ नो च॑ विद्वि॒षते॑ मि॒थः ।
तत्कृ॑ण्मो॒ ब्रह्म॑ वो गृ॒हे सं॒ज्ञानं॒ पुरु॑षेभ्यः ॥१७॥

अर्थः—हे गृहस्थो ! मैं ईश्वर (येन) जिस प्रकार के व्यवहार से (देवाः) विद्वान् लोग (मिथः) परस्पर (न वियन्ति) पृथक् भाववाले नहीं होते, (च) और (नो विद्विषते) परस्पर में द्वेष कभी नहीं करते, (तत्) वही कर्म (वः) तुम्हारे (गृहे) घर में (कृण्मः) निश्चित करता हूं । (पुरुषेभ्यः) पुरुषों को (संज्ञानम्) अच्छे प्रकार चिताता हूं कि तुम लोग परस्पर प्रीति से वर्त कर बड़े (ब्रह्म) धनैश्वर्य को प्राप्त होओ ॥१७॥

ज्याय॑स्वन्तश्चि॒त्तिनो॒ मा वि यौ॑ष्ट संरा॒धय॑न्तः सधु॑रा॒श्चर॑न्तः।
अ॒न्यो अ॒न्यस्मै॑ व॒ल्गु वद॑न्त॒ एत॑ सध्री॒चीना॑न्वः संम॑नसस्कृणोमि ॥१८

अर्थः—हे गृहस्थादि मनुष्यो ! तुम (ज्यायस्वन्तः) उत्तम विद्यादि-गुणयुक्त, (चित्तिनः) विद्वान् सज्ञान, (सधुराः) धुरन्धर होकर (चरन्तः) विचरते, और (संराधयन्तः) परस्पर मिलके धन-धान्य राज्यसमृद्धि को प्राप्त होते हुए (मा वियौष्ट) विरोधी वा पृथक्-पृथक् भाव मत करो। (अन्यः) एक (अन्यस्मै) दूसरे के लिये (वल्गु) सत्य मधुर भाषण (वदन्तः) कहते हुए एक-दूसरे को (एत) प्राप्त होओ । इसीलिये (सध्रीचीनान्) समान लाभाऽलाभ से एक-दूसरे के सहायक, (संमनसः) ऐकमत्यवाले (वः) तुम को (कृणोमि) करता हूं, अर्थात् मैं ईश्वर तुम को जो आज्ञा देता हूं, इस को आलस्य छोड़कर किया करो ॥१८॥

स॒मा॒नी प्र॒पा स॒ह वो॑ऽन्नभा॒गः स॑मा॒ने योक्त्रे॑ स॒ह वो॑ युनज्मि ।
स॒म्यञ्चो॒ऽग्निं स॑पर्यता॒रा नाभि॑मिवा॒भितः॑ ॥१९॥
स॒ध्री॒चीना॑न्वः संम॑नसस्कृणो॒म्येक॑श्नुष्टीन्त्सं॒वन॑नेन॒ सर्वा॑न् ।
दे॒वा इ॑वा॒मृतं॒ रक्ष॑माणाः सा॒यंप्रा॑तः सौमन॒सो वो॑ अस्तु ॥२०॥

—अथर्व० कां० ३। सू० ३० । मन्त्र १-७॥

अर्थः—हे गृहस्थादि मनुष्यो ! मुझ ईश्वर की आज्ञा से तुम्हारा (प्रपा) जलपान स्नानादि का स्थान आदि व्यवहार (समानी) एक सा हो । (वः) तुम्हारा (अन्नभागः) खान-पान (सह) साथ हुआ करे । (वः) तुम्हारे (समाने) एक से (योक्त्रे) अश्वादि यान के जोते (सह) संगी हों । और तुम को मैं धर्म्मादि व्यवहार में भी एकीभूत करके (युनज्मि) नियुक्त करता हूं । जैसे (आराः) चक्र के आरे (अभितः) चारों ओर से (नाभिमिव) बीच के नालरूप काष्ठ में लगे रहते हैं, अथवा जैसे ऋत्विज् लोग और यजमान यज्ञ में मिलके (अग्निम्) अग्नि

आदि के सेवन से जगत् का उपकार करते हैं, वैसे (सम्यञ्चः) सम्यक् प्राप्तिवाले तुम मिलके धर्मयुक्त कर्मों को (सपर्यत) एक-दूसरे का हित सिद्ध किया करो ।।१९।।

हे गृहस्थादि मनुष्यो ! मैं ईश्वर (वः) तुम को (सध्रीचीनान्) सह वर्त्तमान, (संमनसः) परस्पर के लिये हितैषी, (एकश्रुष्टीन्) एक ही धर्मकृत्य में शीघ्र प्रवृत्त होनेवाले (सर्वान्) सब को (संवननेन) धर्मकृत्य के सेवन के साथ एक-दूसरे के उपकार में नियुक्त (कृणोमि) करता हूं । तुम (देवा इव) विद्वानों के समान (अमृतम्) व्यावहारिक वा पारमार्थिक सुख की (रक्षमाणाः) रक्षा करते हुए (सायंप्रातः) सन्ध्या और प्रातःकाल अर्थात् सब समय में एक-दूसरे से प्रेमपूर्वक मिला करो। ऐसे करते हुए (वः) तुम्हारा (सौमनसः) मन का आनन्दयुक्त शुद्धभाव (अस्तु) सदा बना रहे ।।२०।।

श्रमेण तपसा सृष्टा ब्रह्मणा वित्त ऋते श्रिताः ।।२१।।
सत्येनावृताः श्रिया प्रावृता यशसा परीवृताः ।।२२।।
स्वधया परिहिताः श्रद्धया पर्यूढा दीक्षया गुप्ता
यज्ञे प्रतिष्ठिता लोको निधनम् ।।२३।।

अर्थः—हे स्त्रीपुरुषो ! मैं ईश्वर तुम को आज्ञा देता हूं कि तुम सब गृहस्थ मनुष्य लोग (श्रमेण) परिश्रम तथा (तपसा) प्राणायाम से (सृष्टाः) संयुक्त, (ब्रह्मणा) वेदविद्या परमात्मा और धनादि से (वित्ते) भोगने योग्य धनादि के प्रयत्न में, और (ऋते) यथार्थ पक्षपातरहित न्यायरूप धर्म में (श्रिताः) चलनेहारे सदा बने रहो ।।२१।।

(सत्येन) सत्यभाषणादि कर्मों से (आवृताः) चारों ओर से युक्त, (श्रिया) शोभा तथा लक्ष्मी से (प्रावृताः) युक्त, (यशसा) कीर्ति और धन से (परीवृताः) सब ओर से संयुक्त रहा करो ।।२२।।

(स्वधया) अपने ही अन्नादि पदार्थ के धारण से (परिहिताः) सब के हितकारी, (श्रद्धया) सत्य धारण में श्रद्धा से (पर्यूढाः) सब ओर से सब को सत्याचरण प्राप्त करानेहारे, (दीक्षया) नाना प्रकार के ब्रह्मचर्य सत्यभाषणादि व्रत धारण से (गुप्ताः) सुरक्षित, (यज्ञे) विद्वानों के सत्कार शिल्पविद्या और शुभ गुणों के दान में (प्रतिष्ठिताः) प्रतिष्ठा को प्राप्त हुआ करो । और इन्हीं कर्मों से (निधनं लोकः) इस मनुष्यलोक को प्राप्त होके मृत्युपर्यन्त सदा आनन्द में रहो ।।२३।।

ओजश्च तेजश्च सहश्च बलं च वाक् चेन्द्रियं च श्रीश्च धर्मश्च ।।२४।।

अर्थः—हे मनुष्यो ! तुम जो (ओजः) पराक्रम (च) और इस की सामग्री, (तेजः) तेजस्वीपन (च) और इस की सामग्री, (सहः) स्तुति-निन्दा हानि-लाभ तथा शोकादि का सहन (च) और इस के साधन, (बलं च) बल और इस के साधन, (वाक् च) सत्य प्रिय वाणी और इस के अनुकूल व्यवहार, (इन्द्रियं च) शान्त धर्मयुक्त अन्तःकरण और शुद्धात्मा तथा जितेन्द्रियता, (श्रीश्च) लक्ष्मी सम्पत्ति और इस की प्राप्ति का धर्मयुक्त उद्योग, (धर्मश्च) पक्षपातरहित न्यायाचरण वेदोक्त धर्म और जो इस के साधन वा लक्षण हैं, उन को तुम प्राप्त होके इन्हीं में सदा वर्त्ता करो ॥२४॥

ब्रह्म॑ च क्ष॒त्रं च॑ रा॒ष्ट्रं च॒ विश॑श्च॒ त्विषि॑श्च॒ यश॑श्च॒ वर्च॑श्च॒ द्रवि॑णं च ॥२५॥

आयु॑श्च रू॒पं च॒ नाम॑ च की॒र्तिश्च॑ प्रा॒णश्चा॑पा॒नश्च चक्षु॑श्च॒ श्रोत्रं॑ च ॥२६॥

पय॑श्च॒ रस॒श्चान्नं॑ चान्नाद्यं॑ च ऋ॒तं च॑ स॒त्यं चे॒ष्टं च॑ पू॒र्तं च॑ प्र॒जा च॑ प॒शव॑श्च ॥२७॥

—अथर्व० कां० १२। अ० ५। वर्ग १-२॥

अर्थः—हे गृहस्थादि मनुष्यो ! तुम को योग्य है कि (ब्रह्म च) पूर्ण विद्यादि शुभ गुणयुक्त मनुष्य और सब के उपकारक शम, दमादि गुणयुक्त ब्रह्मकुल, (क्षत्रं च) विद्यादि उत्तम गुणयुक्त तथा विनय और शौर्यादि गुणों से युक्त क्षत्रियकुल (राष्ट्रं च) राज्य और उस का न्याय से पालन, (विशश्च) उत्तम प्रजा और उस की उन्नति, (त्विषिश्च) सद्विद्यादि से तेज आरोग्य शरीर और आत्मा के बल से प्रकाशमान, और इस की उन्नति से (यशश्च) कीर्तियुक्त तथा इस के साधनों को प्राप्त हुआ करो । (वर्चश्च) पढ़ी हुई विद्या का विचार और उस का नित्य पढ़ना,(द्रविणं च) द्रव्योपार्जन उस की रक्षा और धर्मयुक्त परोपकार में व्यय करने आदि कर्मों को सदा किया करो ॥२५॥

हे स्त्रीपुरुषो ! तुम अपना (आयुः) जीवन बढ़ाओ, (च) और सब जीवन में धर्मयुक्त उत्तम कर्म ही किया करो । (रूपं च) विषयासक्ति कुपथ्य रोग और अधर्माचरण को छोड़के अपने स्वरूप को अच्छा रक्खो और वस्त्राभूषण भी धारण किया करो, (नाम च) नामकरण के पृष्ठ ४९-५२ में लिखे प्रमाणे शास्त्रोक्त संज्ञाधारण और उसके नियमों को भी (कीर्तिश्च) सत्याचरण से प्रशंसा का धारण, और गुणों में दोषारोपण रूप निन्दा को छोड़ दो । (प्राणश्च) चिरकालपर्यन्त जीवन का धारण और

उस के युक्ताहार विहारादि साधन, (अपानश्च) सब दु:ख दूर करने का उपाय और उस की सामग्री, (चक्षुश्च) प्रत्यक्ष और अनुमान उपमान, (श्रोत्रं च) शब्दप्रमाण और उस की सामग्री को धारण किया करो ॥२६॥

हे गृहस्थ लोगो ! (पयश्च) उत्तम जल दूध और इस का शोधन और युक्ति से सेवन, (रसश्च) घृत दूध मधु आदि और इस का युक्ति से आहार-विहार, (अन्नं च) उत्तम चावल आदि अन्न और उस के उत्तम संस्कार किये (अन्नाद्यं च) खाने योग्य पदार्थ और उस के साथ उत्तम दाल, शाक, कढ़ी आदि, (ऋतं च) सत्य मानना और सत्य मनवाना, (सत्यं च) सत्य बोलना और बुलवाना (इष्टं च) यज्ञ करना और कराना, (पूर्त्तं च) यज्ञ की सामग्री पूरी करना तथा जलाशय और आरामवाटिका आदि का बनाना और बनवाना, (प्रजा च) प्रजा की उत्पत्ति पालन और उन्नति सदा करनी तथा करानी, (पशवश्च) गाय आदि पशुओं का पालन और उन्नति सदा करनी तथा करानी चाहिये ॥२७॥

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥१॥

—य० अ० ४० । मन्त्र २ ॥

अर्थः—मैं परमात्मा सब मनुष्यों के लिए आज्ञा देता हूं कि सब मनुष्य (इह) इस संसार में शरीर से समर्थ होके (कर्माणि) सत्कर्मों को (कुर्वन्नेव) करता ही करता (शतं समाः) १०० सौ वर्ष पर्यन्त (जिजीविषेत्) जीने की इच्छा करे, आलसी और प्रमादी कभी न होवे। (एवम्) इसी प्रकार उत्तम कर्म करते हुए (त्वयि) तुझ (नरे) मनुष्य में (इतः) इस हेतु से (अन्यथा) उलटा पापरूप (कर्म) दु:खद कर्म (न लिप्यते) लिप्यमान कभी नहीं होता, और तुम पापरूप कर्म में लिप्त कभी मत होओ । इस उत्तम कर्म से कुछ भी दु:ख (नास्ति) नहीं होता । इसलिये तुम स्त्रीपुरुष सदा पुरुषार्थी होकर उत्तम कर्मों से अपनी और दूसरों की सदा उन्नति किया करो ॥१॥

पुनः स्त्रीपुरुष सदा निम्नलिखित मन्त्रों के अनुकूल इच्छा और आचरण किया करें । वे मन्त्र ये हैं—

भूर्भुवः स्वः। सुप्रजाः प्रजाभिः स्याꣳ सुवीरो वीरैः सुपोषः पोषैः।
नर्य प्रजां मे पाहि शꣳस्य पशून् मे पाह्यथर्य पितुं मे पाहि ॥२॥
गृहा मा बिभीत मा वेपध्वमूर्जं बिभ्रतऽ एमसि ।
ऊर्जं बिभ्रद्वः सुमनाः सुमेधा गृहानैमि मनसा मोदमानः ॥३॥

—यजु० अ० ३ । मन्त्र ३७, ४१ ॥

अर्थः—हे स्त्री वा पुरुष ! मैं तेरा वा अपने के सम्बन्ध से (भूर्भुवः स्वः) शारीरिक वाचिक और मानस अर्थात् त्रिविध सुख से युक्त होके (प्रजाभिः) मनुष्यादि उत्तम प्रजाओं के साथ (सुप्रजाः) उत्तम प्रजायुक्त (स्याम्) होऊं। (वीरैः) उत्तम पुत्र बन्धु सम्बन्धी और भृत्यों से सह वर्तमान (सुवीरः) उत्तम वीरों से सहित होऊँ। (पोषैः) उत्तम पुष्टिकारक व्यवहारों से (सुपोषः) उत्तम पुष्टियुक्त होऊँ। हे (नर्य) मनुष्यों में सज्जन वीर स्वामिन्! (मे) मेरी (प्रजाम्) प्रजा की (पाहि) रक्षा कीजिये। हे (शंस्य) प्रशंसा करने योग्य स्वामिन्! आप (मे) मेरे (पशून्) पशुओं की (पाहि) रक्षा कीजिये। हे (अथर्य) अहिंसक दयालो स्वामिन्! (मे) मेरे (पितुम्) अन्न आदि की (पाहि) रक्षा कीजिये। वैसे हे नारी! प्रशंसनीय गुणयुक्त तू मेरी प्रजा मेरे पशु और मेरे अन्न की सदा रक्षा किया कर ।।२।।

हे (गृहाः) गृहस्थ लोगो ! तुम विधिपूर्वक गृहाश्रम में प्रवेश करने से (मा बिभीत) मत डरो, (मा वेपध्वम्) मत कम्पायमान होओ। (ऊर्ज्जम्) अन्न पराक्रम तथा विद्यादि शुभ गुण से युक्त होकर गृहाश्रम को (बिभ्रतः) धारण करते हुए तुम लोगों को हम सत्योपदेशक विद्वान् लोग (एमसि) प्राप्त होते और सत्योपदेश करते हैं और अन्नपानाच्छादन-स्थान से तुम्हीं हमारा निर्वाह करते हो। इस लिये तुम्हारा गृहाश्रम व्यवहार में निवास सर्वोत्कृष्ट है। हे वरानने! जैसे मैं तेरा पति (मनसा) अन्तःकरण से (मोदमानः) आनन्दित (सुमनाः) प्रसन्न मन (सुमेधाः) उत्तम बुद्धि से युक्त मुझ को, और हे मेरे पूजनीयतम पिता अदि लोगो! (वः) तुम्हारे लिये (ऊर्ज्जम्) पराक्रम तथा अन्नादि ऐश्वर्य को (बिभ्रत्) धारण करता हुआ तुम (गृहान् गृहस्थों को (आ एमि) सब प्रकार से प्राप्त होता हूं, उसी प्रकार तुम लोग भी मुझ से प्रसन्न होके वर्ता करो ।।३।।

येषा॑म॒ध्येति॑ प्र॒वस॒न् येषु॑ सौमन॒सो ब॒हुः ।
गृ॒हानुप॑ह्वयामहे॒ ते नो॑ जानन्तु जान॒तः ।।४।।
उप॑हूता॒ऽ इ॒ह गाव॒ऽ उप॑हूता अजा॒वयः॑ ।
अथो॒ऽअन्न॑स्य की॒लाल॒ऽ उप॑हूतो गृ॒हेषु॑ नः ।
क्षेमा॑य वः शान्त्यै॒ प्रप॑द्ये शि॒वꣳ श॒ग्मꣳ श॒ंयोः श॒ंयोः ।।५।।

—यजु० अध्याय ३। मं० ४२, ४३ ।।

अर्थ—हे गृहस्थो! (प्रवसन्) परदेश को गया हुआ मनुष्य (येषाम्) जिन का (अध्येति) स्मरण करता है, (येषु) जिन गृहस्थों में (बहुः) बहुत (सौमनसः) प्रीति होती है, उन (गृहान्) गृहस्थों की हम विद्वान् लोग (उपह्वयामहे) प्रशंसा करते और प्रीति से समीपस्थ बुलाते हैं। (ते)

वे गृहस्थ लोग (जानतः) उन को जाननेवाले (नः) हम लोगों को (जानन्तु) सुहृद् जानें । वैसे तुम गृहस्थ और हम संन्यासी लोग आपस में मिलके पुरुषार्थ से व्यवहार और परमार्थ की उन्नति सदा किया करें।।४।।

हे गृहस्थो ! (नः) अपने (गृहेषु) घरों में जिस प्रकार (गावः) गौ आदि उत्तम पशु (उपहूताः) समीपस्थ हों, तथा (अजावयः) बकरी भेड़ आदि दूध देनेवाले पशु (उपहूताः) समीपस्थ हों, (अथो) इस के अनन्तर (अन्नस्य) अन्नादि पदार्थों के मध्य में उत्तम (कीलालः) अन्नादि पदार्थ (उपहूतः) प्राप्त होवे, हम लोग वैसा प्रयत्न किया करें। हे गृहस्थो! मैं उपदेशक वा राजा (इह) इस गृहाश्रम में (वः) तुम्हारे (क्षेमाय) रक्षण तथा (शान्त्यै) निरुपद्रवता करने के लिये (प्रपद्ये) प्राप्त होता हूं । मैं और आप लोग प्रीति से मिलके (शिवम्) कल्याण (शग्मम्) व्यावहारिक सुख और (शंयोः शंयोः) पारमार्थिक सुख को प्राप्त होके अन्य सब लोगों को सदा सुख दिया करें ।।५।।

सन्तुष्टो भार्यया भर्त्ता भर्त्रा भार्या तथैव च ।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ।।१।।
यदि हि स्त्री न रोचेत पुमांसं न प्रमोदयेत् ।
अप्रमोदात् पुनः पुंसः प्रजनं न प्रवर्त्तते ।।२।। –मनु० ।।

अर्थ–हे गृहस्थो ! जिस कुल में भार्या से प्रसन्न पति और पति से भार्या सदा प्रसन्न रहती है, उसी कुल में निश्चित कल्याण होता है और दोनों परस्पर अप्रसन्न रहें तो उस कुल में नित्य कलह वास करता है ।।१।।

यदि स्त्री पुरुष पर रुचि न रक्खे वा पुरुष को प्रहर्षित न करे तो अप्रसन्नता से पुरुष के शरीर में कामोत्पत्ति कभी न होके सन्तान नहीं होते और यदि होते हैं तो दुष्ट होते हैं ।।२।।

स्त्रियां तु रोचमानायां सर्वं तद् रोचते कुलम् ।
तस्यां त्वरोचमानायां सर्वमेव न रोचते ।।३।। –मनु० ।।

अर्थ–और जो पुरुष स्त्री को प्रसन्न नहीं करता तो उस स्त्री के अप्रसन्न रहने से सब कुलभर अप्रसन्न=शोकातुर रहता है और जब पुरुष से स्त्री प्रसन्न रहती है, तब सब कुल आनन्दरूप दीखता है ।।३।।

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा ।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः ।।४।।
यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः ।।५।।
शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम् ।
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्द्धते तद्धि सर्वदा ।।६।।

जामयो यानि गेहानि शपन्त्यप्रतिपूजिताः ।
तानि कृत्याहतानीव विनश्यन्ति समन्ततः ॥७॥ —मनु०॥

अर्थ—पिता, भ्राता, पति और देवर को योग्य है कि अपनी कन्या, बहिन, स्त्री और भौजाई आदि स्त्रियों की सदा पूजा करें, अर्थात् यथायोग्य मधुर भाषण, भोजन, वस्त्र, आभूषण आदि से प्रसन्न रक्खें, जिन को कल्याण की इच्छा हो, वे स्त्रियों को क्लेश कभी न देवें ।।४।।

जिस कुल में नारियों की पूजा अर्थात् सत्कार होता है, उस कुल में दिव्य गुण, दिव्य भोग और उत्तम सन्तान होते हैं और जिस कुल में स्त्रियों की पूजा नहीं होती, वहां जानो उन की सब क्रिया निष्फल हैं ।।५।।

जिस कुल में स्त्री लोग अपने-अपने पुरुषों के वेश्यागमन वा व्यभिचारादि दोषों से शोकातुर रहती हैं, वह कुल शीघ्र नाश को प्राप्त हो जाता है । और जिस कुल में स्त्रीजन पुरुषों के उत्तमाचरणों से प्रसन्न रहती हैं, वह कुल सर्वदा बढ़ता रहता है ।।६।।

जिन कुल और घरों में अपूजित अर्थात् सत्कार को न प्राप्त होकर स्त्रीलोग जिन गृहस्थों को शाप देती हैं, वे कुल तथा गृहस्थ जैसे विष देकर बहुतों को नाश कर देवें, वैसे चारों ओर से नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं।।७।।

तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः ।
भूतिकामैर्नरैर्नित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च ॥८॥ —मनु० ।।

अर्थ—इस कारण ऐश्वर्य की इच्छा करनेवाले पुरुषों को योग्य है कि इन स्त्रियों को सत्कार के अवसरों और उत्सवों में भूषण वस्त्र खान-पान आदि से सदा पूजा अर्थात् सत्कारयुक्त प्रसन्न रक्खें ।।८।।

सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया ।
सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया ॥९॥ —मनु० ।।

अर्थ—स्त्री को योग्य है कि सदा आनन्दित होके चतुरता से गृहकार्यों में वर्तमान रहे तथा अन्नादि के उत्तम संस्कार, पात्र, वस्त्र, गृह आदि के संस्कार और घर के भोजनादि में जितना नित्य धन आदि लगे, उस के यथायोग्य करने में सदा प्रसन्न रहे ।।९।।

एताश्चान्याश्च लोकेऽस्मिन्नपकृष्टप्रसूतयः ।
उत्कर्षं योषितः प्राप्ताः स्वैः स्वैर्भर्तृगुणैः शुभैः ॥१०॥

अर्थ—यदि स्त्रियाँ दुष्टाचारयुक्त भी हों तथापि इस संसार में बहुत स्त्रियाँ अपने-अपने पतियों के शुभ गुणों से उत्कृष्ट हो गईं, होती हैं और होंगी भी । इसलिए यदि पुरुष श्रेष्ठ हों तो स्त्रियाँ श्रेष्ठ और दुष्ट हों तो दुष्ट हो जाती हैं । इस से प्रथम मनुष्यों को उत्तम होके अपनी

स्त्रियों को उत्तम करना चाहिए ।।१०।।

प्रजनार्थं महाभागाः पूजार्हा गृहदीप्तयः ।
स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन।।११।।
उत्पादनमपत्यस्य जातस्य परिपालनम् ।
प्रत्यहं लोकयात्रायाः प्रत्यक्षं स्त्रीनिबन्धनम् ।।१२।।
अपत्यं धर्मकार्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा ।
दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितॄणामात्मनश्च ह ।।१३।।
यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः ।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्व आश्रमाः ।।१४।।

—मनु०।।

अर्थ—हे पुरुषो ! सन्तानोत्पत्ति के लिये महाभाग्योदय करनेहारी, पूजा के योग्य, गृहाश्रम को प्रकाश करती, सन्तानोत्पत्ति करने करानेहारी घरों में स्त्रियां हैं, वे श्री अर्थात् लक्ष्मीस्वरूप होती हैं । क्योंकि लक्ष्मी शोभा धन और स्त्रियों में कुछ भेद नहीं है ।।११।।

हे पुरुषो ! अपत्यों की उत्पत्ति, उत्पन्न का पालन करने आदि लोकव्यवहार को नित्यप्रति, जो कि गृहाश्रम का कार्य होता है, उस का निबन्ध करनेवाली प्रत्यक्ष स्त्री है ।।१२।।

सन्तानोत्पत्ति, धर्म-कार्य, उत्तम सेवा और रति तथा अपना और पितरों का जितना सुख है, वह सब स्त्री ही के आधीन होता है ।।१३।।

जैसे वायु के आश्रय से सब जीवों का वर्तमान सिद्ध होता है, वैसे ही गृहस्थ के आश्रय से ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी अर्थात् सब आश्रमों का निर्वाह गृहस्थ के आश्रय से होता है ।।१४।।

यस्मात् त्रयोऽप्याश्रमिणो दानेनान्नेन चान्वहम् ।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही ।।१५।।
स सन्धार्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता ।
सुखं चेहेच्छता नित्यं योऽधार्यो दुर्बलेन्द्रियैः ।।१६।।
सर्वेषामपि चैतेषां वेदस्मृतिविधानतः ।
गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठः स त्रीनेतान् बिभर्ति हि ।।१७।।

अर्थ—जिस से ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी इन तीन आश्रमियों को अन्न, वस्त्रादि दान से नित्यप्रति गृहस्थ धारण पोषण करता है, इसलिये व्यवहार में गृहाश्रम सब से बड़ा है ।।१५।।

हे स्त्रीपुरुषो ! जो तुम अक्षय* मुक्ति-सुख और इस संसार के सुख की इच्छा रखते हो तो जो दुर्बलेन्द्रिय और निर्बुद्धि पुरुषों के धारण करने योग्य नहीं है, उस गृहाश्रम को नित्य प्रयत्न से धारण करो ।।१६।।

वेद और स्मृति के प्रमाण से सब आश्रमों के बीच में गृहाश्रम श्रेष्ठ है, क्योंकि यही आश्रम ब्रह्मचारी आदि तीनों आश्रमों का धारण और पालन करता है ।।१७।।

यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम् ।
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ॥१८॥
उपासते ये गृहस्थाः परपाकमबुद्धयः ।
तेन ते प्रेत्य पशुतां व्रजन्त्यन्नादिदायिनाम् ॥१९॥
आसनावसथौ शय्यामनुव्रज्यामुपासनाम् ।
उत्तमेषूत्तमं कुर्याद्धीनं हीने समे समम् ॥२०॥
पाषण्डिनो विकर्मस्थान् वैडालव्रतिकान् शठान् ।
हैतुकान् वकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत् ॥२१॥

अर्थ—हे मनुष्यो ! जैसे सब बड़े-बड़े नद और नदी सागर में जाकर स्थिर होते हैं, वैसे ही सब आश्रमी गृहस्थ ही को प्राप्त होके स्थिर होते हैं ।।१८।।

यदि गृहस्थ होके पराये घर में भोजनादि की इच्छा करते हैं तो वे बुद्धिहीन गृहस्थ अन्य से प्रतिग्रहरूप पाप करके जन्मान्तर में अन्नादि के दाताओं के पशु बनते हैं । क्योंकि अन्य से अन्नादि का ग्रहण करना अतिथियों का काम है, गृहस्थों का नहीं ।।१९।।

जब गृहस्थ के समीप अतिथि आवें, तब आसन, निवास, शय्या, पश्चाद् गमन और समीप में बैठना आदि सत्कार जैसे का वैसा, अर्थात् उत्तम का उत्तम, मध्यम का मध्यम और निकृष्ट का निकृष्ट करे । ऐसा न हो कि इसे कभी न समझें ।।२०।।

किन्तु जो पाखण्डी वेदनिन्दक नास्तिक ईश्वर वेद और धर्म को न मानें, अधर्माचरण करनेहारे, हिंसक, शठ, मिथ्याभिमानी, कुतर्की और वकवृत्ति, अर्थात् पराये पदार्थ हरने वा बहकाने में बगुले के समान अतिथिवेशधारी बनके आवें, उन का वचनमात्र से भी सत्कार गृहस्थ कभी न करे ।।२१।।

---

* अक्षय इतना ही मात्र है कि जितना समय मुक्ति का है, उतने समय में दुःख का संयोग, जैसा विषयेन्द्रिय के संयोगजन्य सुख में होता है, वैसा नहीं होता।

दशसूनासमं चक्रं दशचक्रसमो ध्वजः ।
दशध्वजसमो वेषो दशवेषसमो नृपः ॥२२॥
न लोकवृत्तं वर्तेत वृत्तिहेतोः कथञ्चन ।
अजिह्मामशठां शुद्धां जीवेद् ब्राह्मणजीविकाम् ॥२३॥
सत्यधर्मार्यवृत्तेषु शौचे चैवाऽऽरमेत् सदा ।
शिष्यांश्च शिष्याद् धर्मेण वाग्बाहूदरसंयतः ॥२४॥
परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ ।
धर्मं चाप्यसुखोदर्कं लोकविक्रुष्टमेव च ॥२५॥ —मनु० ॥

अर्थ—दश हत्या के समान चक्र अर्थात् कुम्हार, गाड़ी से जीविका करनेहारे, दश चक्र के समान ध्वज अर्थात् धोबी, मद्य को निकाल कर बेचनेहारे, दश ध्वज के समान वेष अर्थात् वेश्या, भडुआ भांड, दूसरे की नकल अर्थात् पाषाणमूर्तियों के पूजक (=पूजारी) आदि और दश वेष के समान जो अन्यायकारी राजा होता है, उन के अन्न आदि का ग्रहण अतिथि लोग कभी न करें ॥२२॥

गृहस्थ जीविका के लिये भी कभी शास्त्रविरुद्ध लोकाचार का वर्त्ताव न वर्त्ते । किन्तु जिस में किसी प्रकार की कुटिलता, मूर्खता, मिथ्यापन वा अधर्म न हो, उस वेदोक्त कर्म-सम्बन्धी जीविका को करे ॥२३॥

सत्य, धर्म, आर्य अर्थात् आप्त पुरुषों के व्यवहार और शौच=पवित्रता ही में सदा गृहस्थ लोग प्रवृत्त रहें और सत्यवाणी, भोजनादि के लोभरहित, हस्तपादादि की कुचेष्टा छोड़कर धर्म से शिष्यों और सन्तानों को उत्तम शिक्षा सदा किया करें ॥२४॥

यदि बहुत सा धन, राज्य और अपनी कामना अधर्म से सिद्ध होती हो तो भी अधर्म सर्वथा छोड़ देवें । और वेदविरुद्ध धर्माभास जिस के करने से उत्तरकाल में दुःख और संसार की उन्नति का नाश हो, वैसा नाममात्र धर्म और कर्म कभी न किया करें ॥२५॥

सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम् ।
योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः ॥२६॥
क्षान्त्या शुध्यन्ति विद्वांसो दानेनाकार्यकारिणः ।
प्रच्छन्नपापा जप्येन तपसा वेदवित्तमाः ॥२७॥
अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति ।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति ॥२८॥

दशावरा वा परिषद् यं धर्मं परिकल्पयेत् ।
त्र्यवरा वापि वृत्तस्था तं धर्मं न विचालयेत् ॥२९॥
दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति ।
दण्डः सुप्तेषु जागर्त्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः ॥३०॥
तस्याहुः सम्प्रणेतारं राजानं सत्यवादिनम् ।
समीक्ष्यकारिणं प्राज्ञं धर्मकामार्थकोविदम् ॥३१॥ —मनु० ॥

अर्थ—जो धर्म ही से पदार्थों का सञ्चय करना है, वही सब पवित्रताओं में उत्तम पवित्रता, अर्थात् जो अन्याय से किसी पदार्थ का ग्रहण नहीं करता, वही पवित्र है । किन्तु जल-मृत्तिकादि से जो पवित्रता होती है, वह धर्म के सदृश उत्तम नहीं है ॥२६॥

विद्वान् लोग क्षमा से, दुष्टकर्मकारी सत्सङ्ग और विद्यादि शुभ गुणों के दान से, गुप्त पाप करनेहारे विचार से त्याग कर और ब्रह्मचर्य तथा सत्यभाषणादि से वेदवित् उत्तम विद्वान् शुद्ध होते हैं ॥२७॥

किन्तु जल से ऊपर के अङ्ग पवित्र होते हैं, आत्मा और मन नहीं। मन तो सत्य मानने, सत्य बोलने और सत्य करने से शुद्ध और जीवात्मा विद्या योगाभ्यास और धर्माचरण ही से पवित्र तथा बुद्धि ज्ञान से ही शुद्ध होती है, जल मृत्तिकादि से नहीं ॥२८॥

गृहस्थ लोग छोटों बड़ों वा राजकार्यों के सिद्ध करने में कम से कम १० दश अर्थात् ऋग्वेदज्ञ, यजुर्वेदज्ञ, सामवेदज्ञ, हैतुक (=नैयायिक), तर्ककर्त्ता, नैरुक्त (=निरुक्तशास्त्रज्ञ), धर्माध्यापक, ब्रह्मचारी, स्नातक और वानप्रस्थ विद्वानों, अथवा अतिन्यूनता करे तो तीन वेदवित् (=ऋग्वेदज्ञ, यजुर्वेदज्ञ और सामवेदज्ञ) विद्वानों की सभा से कर्त्तव्याकर्त्तव्य धर्म और अधर्म का जैसा निश्चय हो, वैसा ही आचरण किया करें ॥२९॥

और जैसा विद्वान् लोग दण्ड ही को धर्म जानते हैं, वैसा सब लोग जानें, क्योंकि दण्ड ही प्रजा का शासन अर्थात् नियम में रखने वाला, दण्ड ही सब का सब ओर से रक्षक और दण्ड ही सोते हुओं में जागता है । चोरादि दुष्ट भी दण्ड ही के भय से पापकर्म नहीं कर सकते ॥३०॥

उस दण्ड को अच्छे प्रकार चलानेहारे उस राजा को कहते हैं कि जो सत्यवादी, विचार करके ही कार्य का कर्त्ता, बुद्धिमान्, विद्वान्, धर्म, काम और अर्थ का यथावत् जाननेहारा हो ॥३१॥

सोऽसहायेन मूढेन लुब्धेनाकृतबुद्धिना ।
न शक्यो न्यायतो नेतुं सक्तेन विषयेषु च ॥३२॥

शुचिना सत्यसन्धेन यथाशास्त्रानुसारिणा ।
प्रणेतुं शक्यते दण्डः सुसहायेन धीमता ॥३३॥
अदण्ड्यान्दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन् ।
अयशो महद् आप्नोति नरकं चैव गच्छति ॥३४॥

अर्थ—जो राजा उत्तम सहायरहित, मूढ़, लोभी, जिस ने ब्रह्मचर्यादि उत्तम कर्मों से विद्या और बुद्धि की उन्नति नहीं की, जो विषयों में फंसा हुआ है, उस से वह दण्ड कभी न्यायपूर्वक नहीं चल सकता ।।३२।।

इसलिए जो पवित्र, सत्पुरुषों का सङ्गी, राजनीतिशास्त्र के अनुकूल चलनेहारा, धार्मिक पुरुषों के सहाय से युक्त, बुद्धिमान् राजा हो, वही इस दण्ड को धारण करके चला सकता है ।।३३।।

जो राजा अनपराधियों को दण्ड देता, और अपराधियों को दण्ड नहीं देता है, वह इस जन्म में बड़ी अपकीर्ति को प्राप्त होता और मरे पश्चात् नरक अर्थात् महादुःख को पाता है ।।३४।।

मृगयाक्षा दिवास्वप्नः परिवादः स्त्रियो मदः ।
तौर्यत्रिकं वृथाट्या च कामजो दशको गणः ॥३५॥
पैशुन्यं साहसं द्रोह ईर्ष्याऽसूयार्थदूषणम् ।
वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः ॥३६॥
द्वयोरप्येतयोर्मूलं यं सर्वे कवयो विदुः ।
तं यत्नेन जयेल्लोभं तज्जावेतावुभौ गणौ ॥३७॥

अर्थ—जिस राजा में शिकार खेलना, द्यूत और प्रसन्नता के लिए भी चौपड़ आदि खेलना, दिन में सोना, हंसी ठट्ठा, मिथ्यावाद करना, स्त्रियों के साथ सदा अधिक निवास में मोहित होना, मद्यपानादि नशाओं का करना, गाना, बजाना, नाचना वा इन का देखना और वृथा इधर-उधर घूमते फिरना, ये दश दुर्गुण काम से होते हैं ।।३५।।

और चुगली खाना, विना विचारे काम कर बैठना, जिस किसी से वृथा वैर बांधना, दूसरे की स्तुति सुन वा बढ़ती देखके हृदय में जला करना, दूसरों के गुणों में दोष और दोषों में गुण स्थापन करना, बुरे कामों में धन का लगाना, क्रूर वाणी और विना विचारे पक्षपात से किसी को करडा दण्ड देना, ये आठ दोष क्रोधी पुरुष में उत्पन्न होते हैं । ये १८ अठारह दुर्गुण हैं, इन को राजा अवश्य छोड़ देवे ।।३६।।

और जो इन कामज और क्रोधज १८ अठारह दोषों के मूल जिस लोभ को सब विद्वान् लोग जानते हैं, उस को प्रयत्न से राजा जीते,

क्योंकि लोभ ही से पूर्वोक्त १८ अठारह और अन्य दोष भी बहुत से होते हैं । इसलिए हे गृहस्थ लोगो ! चाहे वह राजा का ज्येष्ठ पुत्र क्यों न हो, परन्तु ऐसे दोषवाले मनुष्य को राजा कभी न करना । यदि भूल से हुआ हो तो उस को राज्य से च्युत करके किसी योग्य पुरुष को, जो कि राजा के कुल का हो, राज्याधिकारी करना, तभी प्रजा में आनन्द-मङ्गल सदा बढ़ता रहेगा ।।३७।।

सैन्यापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च ।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ।।३८।।
मौलान् शास्त्रविदः शूरान् लब्धलक्षान् कुलोद्गतान् ।
सचिवान् सप्त चाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान् ।।३९।।
अन्यानपि प्रकुर्वीत शुचीन् प्राज्ञानवस्थितान् ।
सम्यगर्थसमाहर्तॄन् अमात्यान् सुपरीक्षितान् ।।४०।।

अर्थ—जो वेदशास्त्रवित् धर्मात्मा, जितेन्द्रिय, न्यायकारी और आत्मा के बल से युक्त पुरुष होवे, उसी को सेना, राज्य, दण्डनीति और प्रधान पद का अधिकार देना, अन्य क्षुद्राशयों को नहीं ।।३८।।

और जो अपने राज्य में उत्पन्न, शास्त्रों के जाननेहारे शूरवीर, जिन का विचार निष्फल न होवे, कुलीन धर्मात्मा स्वराज्यभक्त हों, उन ७ सात वा ८ आठ पुरुषों को अच्छी प्रकार परीक्षा करके मन्त्री करे और इन्हीं की सभा में आठवाँ वा नववाँ राजा हो । ये सब मिलके कर्त्तव्याकर्त्तव्य कामों का विचार किया करें ।।३९।।

इसी प्रकार अन्य भी राज्य और सेना के अधिकारी, जितने पुरुषों से राज्यकार्य सिद्ध हो सके, उतने ही पवित्र धार्मिक विद्वान् चतुर स्थिरबुद्धि पुरुषों को राज्य-सामग्री के वर्धक नियत करे ।।४०।।

दूतं चैव प्रकुर्वीत सर्वशास्त्रविशारदम् ।
इङ्गिताकारचेष्टज्ञं शुचिं दक्षं कुलोद्गतम् ।।४१।।
अलब्धमिच्छेद् दण्डेन लब्धं रक्षेदवेक्षया ।
रक्षितं वर्धयेद् वृद्ध्या वृद्धं पात्रेषु निःक्षिपेत् ।।४२।। —मनु०।।

अर्थ—जो सब शास्त्र में निपुण, नेत्रादि के सङ्केत, स्वरूप तथा चेष्टा से दूसरे के हृदय की बात को जाननेहारा, शुद्ध, बड़ा स्मृतिमान्, देशकाल को जाननेहारा, सुन्दर जिस का स्वरूप, बड़ा वक्ता और अपने कुल में मुख्य हो, उस और स्वराज्य और पर-राज्य के समाचार देनेहारे अन्य दूतों को भी नियत करे ।।४१।।

तथा राजादि राजपुरुष अलब्ध राज्य की प्राप्ति की इच्छा दण्ड से, और प्राप्त राज्य की रक्षा संभाल से, रक्षित राज्य और धन को व्यापार और ब्याज से बढ़ा, और सुपात्रों के द्वारा सत्य विद्या और सत्य धर्म के प्रचार आदि उत्तम व्यवहारों में बढ़े हुए धन आदि पदार्थों का व्यय करके सब की उन्नति सदा किया करें ।।४२।।

विधि—सदा स्त्रीपुरुष १० दश बजे शयन और रात्रि के पिछले प्रहर वा ४ बजे उठके प्रथम हृदय में परमेश्वर का चिन्तन करके धर्म और अर्थ का विचार किया करें और धर्म और अर्थ के अनुष्ठान वा उद्योग करने में यदि कभी पीड़ा भी हो तथापि धर्मयुक्त पुरुषार्थ को कभी न छोड़ें, किन्तु सदा शरीर और आत्मा की रक्षा के लिए युक्त आहार-विहार, औषधसेवन, सुपथ्य आदि से निरन्तर उद्योग करके व्यावहारिक और पारमार्थिक कर्त्तव्य कर्म की सिद्धि के लिए ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना भी किया करें कि जिस से परमेश्वर की कृपादृष्टि और सहाय से महाकठिन कार्य भी सुगमता से सिद्ध हो सकें। इस के लिए निम्नलिखित मन्त्र हैं—

प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्विना ।
प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं प्रातः सोममुत रुद्रं हुवेम[१] ।।१।।
प्रातर्जितं भगमुग्रं हुवेम वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्ता ।
आध्रश्चिद्यं मन्यमानस्तुरश्चिद्राजा चिद्यं भगं भक्षीत्याह[२] ।।२।।

---

१. हे स्त्रीपुरुषो ! जैसे हम विद्वान् उपदेशक लोग (प्रातः) प्रभात वेला में (अग्निम्) स्वप्रकाशस्वरूप (प्रातः) (इन्द्रम्) परमैश्वर्य के दाता और परमैश्वर्ययुक्त, (प्रातः) (मित्रावरुणा) प्राण उदान के समान प्रिय और सर्वशक्तिमान्, (प्रातः) (अश्विना) सूर्य चन्द्र को जिस ने उत्पन्न किया है, उस परमात्मा की (हवामहे) स्तुति करते हैं, और (प्रातः) (भगम्) भजनीय सेवनीय ऐश्वर्ययुक्त, (पूषणम्) पुष्टिकर्त्ता, (ब्रह्मणस्पतिम्) अपने उपासक वेद और ब्रह्माण्ड के पालन करनेहारे, (प्रातः) (सोमम्) अन्तर्यामि प्रेरक (उत) और (रुद्रम्) पापियों को रुलानेहारे और सर्वरोगनाशक जगदीश्वर की (हुवेम) स्तुति-प्रार्थना करते हैं, वैसे प्रातः समय में तुम लोग भी किया करो ।।१।।

२. (प्रातः) पांच घड़ी रात्रि रहे (जितम्) जयशील (भगम्) ऐश्वर्य के दाता, (उग्रम्) तेजस्वी, (अदितेः) अन्तरिक्ष के (पुत्रम्) पुत्ररूप सूर्य की उत्पत्ति करनेहारे, और (यः) जो कि सूर्यादि लोकों का (विधर्त्ता) विशेष करके धारण करनेहारा (आध्रः) सब ओर से धारणकर्ता, (यं चित्) जिस किसी का भी (मन्यमानः) जाननेहारा, (तुरश्चित्) दुष्टों को भी दण्डदाता, और (राजा) सब का प्रकाशक है, (यम्) जिस (भगम्) भजनीयस्वरूप को

भग प्रणेतर्भग सत्यराधो भगेमां धियमुदवा ददन्नः ।
भग प्र णो जनय गोभिरश्वैर्भग प्र नृभिर्नृवन्तः स्याम[१] ॥३॥
उतेदानीं भगवन्तः स्यामोत प्रपित्व उत मध्ये अह्नाम् ।
उतोदिता मघवन्त्सूर्यस्य वयं देवानां सुमतौ स्याम[२] ॥४॥
भग एव भगवाँ अस्तु देवास्तेन वयं भगवन्तः स्याम ।
तं त्वा भग सर्व इज्जोहवीति स नो भग पुरएता भवेह[३] ॥५॥

—ऋ० मं० ७ । सू० ४१ ॥

इस प्रकार परमेश्वर की प्रार्थना उपासना करनी ॥

(चित्) भी (भक्षीति) इस प्रकार सेवन करता हूं, और इसी प्रकार भगवान् परमेश्वर सब को (आह) उपदेश करता है कि तुम, जो मैं सूर्यादि जगत् का बनाने और धारण करनेहारा हूं, उस=मेरी उपासना किया करो, और मेरी आज्ञा में चला करो, इस से (वयम्) हम लोग उस की (हुवेम) स्तुति करते हैं ॥२॥

१. हे (भग) भजनीयस्वरूप, (प्रणेतः) सब के उत्पादक, सत्याचार में प्रेरक, (भग) ऐश्वर्यप्रद (सत्यराधः) सत्य धन को देनेहारे, (भग) सत्याचरण करनेहारों को ऐश्वर्यदाता आप परमेश्वर ! (नः) हम को (इमाम्) इस (धियम्) प्रज्ञा को (ददत्) दीजिये, और उस के दान से हमारी (उदव) रक्षा कीजिये । हे (भग) आप (गोभिः) गाय आदि और (अश्वैः) घोड़े आदि उत्तम पशुओं के योग से राज्यश्री को (नः) हमारे लिये (प्रजनय) प्रकट कीजिये, हे (भग) आप की कृपा से हम लोग (नृभिः) उत्तम मनुष्यों से (नृवन्तः) बहुत वीर मनुष्यवाले (प्र स्याम) अच्छे प्रकार होवें ॥३॥

२. हे भगवन् ! आप की कृपा (उत) और अपने पुरुषार्थ से हम लोग (इदानीम्) इसी समय (प्रपित्वे) प्रकर्षता=उत्तमता की प्राप्ति में (उत) और (अह्नाम्) इन दिनों के (मध्ये) मध्य में (भगवन्तः) ऐश्वर्ययुक्त और शक्तिमान् (स्याम) होवें, (उत) और हे (मघवन्) परमपूजित असंख्य धन देनेहारे ! (सूर्यस्य) सूर्यलोक के (उदिता) उदय में (देवानाम्) पूर्ण विद्वान् धार्मिक आप्त लोगों की (सुमतौ) अच्छी उत्तम प्रज्ञा (उत) और सुमति में (वयम्) हम लोग (स्याम) सदा प्रवृत्त रहें ॥४॥

३. हे (भग) सकलैश्वर्यसम्पन्न जगदीश्वर ! जिस से (तम्) उस (त्वा) आप की (सर्वः) सब सज्जन (इज्जोहवीति) निश्चय करके प्रशंसा करते हैं, (सः) सो आप हे (भग) ऐश्वर्यप्रद ! (इह) इस संसार और (नः) हमारे गृहाश्रम में (पुर एता) अग्रगामी और आगे-आगे सत्यकर्मों में बढ़ानेहारे (भव) हूजिए; और जिस से (भग एव) सम्पूर्ण ऐश्वर्ययुक्त और समस्त ऐश्वर्य के दाता होने से आप ही हमारे **(भगवान्) पूजनीय देव** (अस्तु) हूजिए, (तेन) उसी हेतु से (देवाः वयम्) हम विद्वान् लोग (भगवन्तः) सकलैश्वर्यसम्पन्न होके सब संसार के उपकार में तन, मन, धन से प्रवृत्त (स्याम) होवें ॥५॥

तत्पश्चात् शौच, दन्तधावन, मुखप्रक्षालन करके स्नान करें। पश्चात् एक कोश वा डेढ़ कोश एकान्त जंगल में जाके योगाभ्यास की रीति से परमेश्वर की उपासना कर, सूर्योदय-पर्यन्त अथवा घड़ी, आध घड़ी दिन चढ़े तक घर में आके, सन्ध्योपासनादि नित्यकर्म नीचे लिखे प्रमाणे यथाविधि उचित समय में किया करें। **इन नित्य करने के योग्य कर्मों में लिखे हुए मन्त्रों का अर्थ और प्रमाण पञ्चमहायज्ञविधि में देख लेवें।** प्रथम शरीरशुद्धि, अर्थात् स्नान-पर्यन्त कर्म करके सन्ध्योपासन का आरम्भ करें।

आरम्भ में दक्षिण हस्त में जल लेके-

ओम् अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा ॥१॥

ओम् अमृतापिधानमसि स्वाहा ॥२॥

ओं सत्यं यशः श्रीर्मयि श्रीः श्रयतां स्वाहा ॥३॥

इन ३ तीन मन्त्रों में से एक-एक से एक-एक आचमन कर, दोनों हाथ धो, कान, आँख, नासिका आदि का शुद्ध जल से स्पर्श करके, शुद्ध देश, पवित्रासन पर, जिधर की ओर का वायु हो, उधर को मुख करके, नाभि के नीचे से मूलेन्द्रिय को ऊपर संकोच करके हृदय के वायु को बल से बाहर निकालके यथाशक्ति रोके। पश्चात् धीरे-धीरे भीतर लेके भीतर थोड़ा सा रोके। यह एक प्राणायाम हुआ। इसी प्रकार कम से कम तीन प्राणायाम करे। नासिका को हाथ से न पकड़े। इस समय परमेश्वर की स्तुतिप्रार्थनोपासना हृदय में करके-

ओं शन्नो॑ दे॒वीर॒भिष्ट॑य॒ऽआपो॑ भवन्तु पी॒तये॑।
शंयोर॒भि स्र॑वन्तु नः ॥ —यजुः अ० ३६।

इस मन्त्र को एक वार पढ़के तीन आचमन करे। पश्चात् पात्र में से मध्यमा अनामिका अंगुलियों से जलस्पर्श करके प्रथम दक्षिण और पश्चात् वाम अङ्गों का निम्नलिखित मन्त्रों से स्पर्श करे-

ओं वाक् वाक् ॥ इस मन्त्र से मुख का दक्षिण और वाम पार्श्व।
ओं प्राणः प्राणः ॥ इस से दक्षिण और वाम नासिका के छिद्र।
ओं चक्षुश्चक्षुः ॥ इस से दक्षिण और वाम नेत्र
ओं श्रोत्रं श्रोत्रम् ॥ इस से दक्षिण और वाम श्रोत्र।
ओं नाभिः ॥ इस से नाभि।
ओं हृदयम् ॥ इस से हृदय।
ओं कण्ठः ॥ इस से कण्ठ।
ओं शिरः ॥ इस से मस्तक।

ओं बाहुभ्यां यशोबलम् ॥ इस से दोनों भुजाओं के मूल स्कन्ध, और—

ओं करतलकरपृष्ठे ॥ इस से दोनों हाथों के ऊपर-तले स्पर्श करके, मार्जन करे—

ओं भूः पुनातु शिरसि ॥ इस मन्त्र से शिर पर ।
ओं भुवः पुनातु नेत्रयोः ॥ इस मन्त्र से दोनों नेत्रों पर ।
ओं स्वः पुनातु कण्ठे ॥ इस मन्त्र से कण्ठ पर ।
ओं महः पुनातु हृदये ॥ इस मन्त्र से हृदय पर ।
ओं जनः पुनातु नाभ्याम् ॥ इस से नाभि पर ।
ओं तपः पुनातु पादयोः ॥ इस से दोनों पगों पर ।
ओं सत्यं पुनातु पुनः शिरसि ॥ इस से पुनः मस्तक पर ।
ओं खं ब्रह्म पुनातु सर्वत्र ॥ इस मन्त्र से सब अङ्गों पर छींटा देवे।

पुनः पूर्वोक्त रीति से प्राणायाम की क्रिया करता जावे, और नीचे लिखे मन्त्र का जप भी करता जाय—

ओं भूः। ओं भुवः। ओं स्वः। ओं महः। ओं जनः। ओं तपः। ओं सत्यम् ॥

इसी रीति से कम से कम ३ तीन और अधिक से अधिक २१ इक्कीस प्राणायाम करे ।

तत्पश्चात् सृष्टिकर्त्ता परमात्मा और सृष्टिक्रम का विचार नीचे लिखित मन्त्रों से करे और जगदीश्वर को सर्वव्यापक न्यायकारी सर्वत्र सर्वदा सब जीवों के कर्मों के द्रष्टा को निश्चित मानके पाप की ओर अपने आत्मा और मन को कभी न जाने देवे, किन्तु सदा धर्मयुक्त कर्मों में वर्तमान रक्खे—

ओम् ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत ।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः ॥१॥
समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत ।
अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी ॥२॥
सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।
दिवं च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथो स्वः ॥३॥

—ऋ० मं० १०। सू० १९०॥

इन मन्त्रों को पढ़के पुनः (शन्नो देवी०) इस मन्त्र से ३ तीन आचमन करके निम्नलिखित मन्त्रों से सर्वव्यापक परमात्मा की स्तुति—

प्रार्थना करे—

ओं प्राची दिगग्निरधिपतिरसितो रक्षितादित्या इषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु । योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥१॥

दक्षिणा दिगिन्द्रोऽधिपतिस्तिरश्चिराजी रक्षिता पितर इषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥२॥

प्रतीची दिग्वरुणोऽधिपतिः पृदाकू रक्षितान्नमिषवः । तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु । योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥३॥

उदीची दिक् सोमोऽधिपतिः स्वजो रक्षिताशनिरिषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु । योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥४॥

ध्रुवा दिग्विष्णुरधिपतिः कल्माषग्रीवो रक्षिता वीरुध इषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु । योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥५॥

ऊर्ध्वा दिग्बृहस्पतिरधिपतिः श्वित्रो रक्षिता वर्षमिषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥६॥

—अथर्व० का० ३। सू० २७। मं० १-६ ॥

इन मन्त्रों को पढ़ते जाना, और अपने मन से चारों ओर बाहर भीतर परमात्मा को पूर्ण जान कर निर्भय निश्शङ्क उत्साही आनन्दित पुरुषार्थी रहना ।

तत्पश्चात् परमात्मा का उपस्थान, अर्थात् परमेश्वर के निकट मैं और मेरे अतिनिकट परमात्मा है ऐसी बुद्धि करके करे—

जातवेदसे सुनवाम सोममरातीयतो नि दहाति वेदः । स नः पर्षदति दुर्गाणि विश्वा नावेव सिन्धुं दुरितात्यग्निः ॥१॥

—ऋ० मं० १। सू० ९९। मं० १॥

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः । आप्रा द्यावापृथिवीऽअन्तरिक्षꣳ सूर्यऽआत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥३॥

—यजुः अ० १३। मं० ४६॥

उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः।
दृशे विश्वाय सूर्यम्॥२॥ —यजुः अ० ३३। मन्त्र ३१॥
उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्तऽ उत्तरम् ।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥१॥
—यजुः अ० ३५। मन्त्र १४॥

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् । पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतम्भूयश्च शरदः शतात् ॥४॥ —यजुः अ० ३६। मं० २४॥

इन मन्त्रों से परमात्मा का उपस्थान करके, पुनः (शन्नो देवी०) इस से ३ तीन आचमन करके, पृष्ठ **७२–७३ में लिखे प्रमाणे,** अथवा पञ्चमहायज्ञविधि में लिखे प्रमाणे **गायत्रीमन्त्र का अर्थ**–विचारपूर्वक परमात्मा की स्तुतिप्रार्थनोपासना करे । पुनः–

''हे परमेश्वर दयानिधे ! आपकी कृपा से जपोपासनादि कर्मों को करके हम धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि को शीघ्र प्राप्त होवें ।''
पुनः–

ओं नमः शम्भवाय च मयोभवाय च नमः शङ्कराय च मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय च ॥
—यजुः अ० १६। मं० ४१॥

इस से परमात्मा को नमस्कार करके, **(शन्नो देवी०) इस मन्त्र से** ३ तीन आचमन करके अग्निहोत्र का आरम्भ करे ॥

इति संक्षेपतः सन्ध्योपासनविधिः समाप्तः ॥१॥

अथाग्निहोत्रम्

जैसे सायं प्रातः दोनों सन्धिवेलाओं में सन्ध्योपासन करें, इसी प्रकार दोनों स्त्री–पुरुष* अग्निहोत्र भी दोनों समय में नित्य किया करें। पृष्ठ १९ में लिखे प्रमाणे **अग्न्याधान समिदाधान,** और पृष्ठ २० में लिखे प्रमाणे **(ओम् अदितेऽनुमन्यस्व)** इत्यादि ४ चार मन्त्रों से यथाविधि कुण्ड के चारों ओर जल–प्रोक्षण करके, शुद्ध किये हुए सुगन्ध्यादियुक्त घी को तपाके पात्र में लेके, कुण्ड से पश्चिम भाग में पूर्वाभिमुख बैठके पृष्ठ ३१ में लिखे प्रमाणे **आघारावाज्यभागाहुति** ४ चार देके, नीचे

* किसी विशेष कारण से स्त्री वा पुरुष अग्निहोत्र के समय दोनों साथ उपस्थित न हो सकें तो एक ही स्त्री वा पुरुष दोनों की ओर का कृत्य कर लेवे अर्थात् एक–एक मन्त्र को दो–दो बार पढ़के दो–दो आहुति करे ।

लिखे हुए मन्त्रों से प्रातःकाल अग्निहोत्र करे—

ओं सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा ॥१॥

ओं सूर्यो वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा ॥२॥

ओं ज्योतिः सूर्यः सूर्यो ज्योतिः स्वाहा ॥३॥

ओं सजूर्देवेन सवित्रा सजूरुषसेन्द्रवत्या ।
जुषाणः सूर्यो वेतु स्वाहा ॥४॥

अब नीचे लिखे हुए मन्त्र सायंकाल में अग्निहोत्र के जानो—

ओम् अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा ॥१॥

ओम् अग्निर्वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा ॥२॥

ओम् अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा ॥३॥

इस मन्त्र को मन से उच्चारण करके तीसरी आहुति देनी।

ओं सजूर्देवेन सवित्रा सजू रात्र्येन्द्रवत्या ।
जुषाणोऽअग्निर्वेतु स्वाहा ॥४॥[३]

अब निम्नलिखित मन्त्रों से प्रातःसायं आहुति देनी चाहिए ।

ओं भूरग्नये प्राणाय स्वाहा ॥ इदमग्नये प्राणाय इदं न मम ॥१॥

ओं भुवर्वायवेऽपानाय स्वाहा ॥ इदं वायवेऽपानाय इदं न मम॥२॥

ओं स्वरादित्याय व्यानाय स्वाहा ॥ इदमादित्याय व्यानाय इदं न मम ॥३॥

ओं भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्यः स्वाहा॥ इदमग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्यः इदं न मम ॥४॥

ओम् आपो ज्योतीरसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरों स्वाहा ॥५॥

ओं यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते । तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा ॥६॥ —यजुः अ० ३२। मं० १४॥

ओं विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव ।
यद् भद्रन्तन्नऽ आ सुव स्वाहा ॥७॥ —यजुः० अ० ३०। मं० ३॥

ओम् अग्ने नय सुपथा रायेऽअस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्। युयोध्य्स्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नमऽउक्तिं विधेम स्वाहा ॥८॥ —यजुः अ० ४०। मं० १६॥

इन ८ आठ मन्त्रों से एक–एक मन्त्र करके एक–एक आहुति

देनी, ऐसे ८ आठ आहुति देके—

ओं सर्वं वै पूर्णꣳ स्वाहा ॥

इस मन्त्र से ३ तीन पूर्णाहुति अर्थात् एक-एक वार पढ़के एक-एक करके ३ तीन आहुति देवे ॥

॥ इत्यग्निहोत्रविधिः संक्षेपतः समाप्तः ॥२॥

अथ पितृयज्ञः

अग्निहोत्रविधि पूर्ण करके तीसरा पितृयज्ञ करे, अर्थात् जीते हुए माता-पिता आदि की यथावत् सेवा करनी 'पितृयज्ञ' कहाता है ॥३॥

अथ बलिवैश्वदेवविधिः

ओम् अग्नये स्वाहा ॥१॥
ओं सोमाय स्वाहा ॥२॥
ओम् अग्नीषोमाभ्यां स्वाहा ॥३॥
ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा ॥४॥
ओं धन्वन्तरये स्वाहा ॥५॥
ओं कुह्वै स्वाहा ॥६॥
ओम् अनुमत्यै स्वाहा ॥७॥
ओं प्रजापतये स्वाहा॥८॥
ओं द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा ॥९॥
ओं स्विष्टकृते स्वाहा ॥१०॥

इन १० दश मन्त्रों से **घृतमिश्रित भात की, यदि भात न बना हो तो क्षार और लवणान्न को छोड़के जो कुछ पाक में बना हो,** उसी की १० दश आहुति करे ।

तत्पश्चात् निम्नलिखित मन्त्रों से बलि दान करे—

ओं सानुगायेन्द्राय नमः ॥१॥ इस से पूर्व ।
ओं सानुगाय यमाय नमः ॥२॥ इस से दक्षिण ।
ओं सानुगाय वरुणाय नमः॥३॥ इस से पश्चिम ।
ओं सानुगाय सोमाय नमः ॥४॥ इस से उत्तर ।
ओं मरुद्भ्यो नमः ॥५॥ इस से द्वार ।
ओं अद्भ्यो नमः ॥६॥ इस से जल ।
ओं वनस्पतिभ्यो नमः ॥७॥ इस से मूसल और ऊखल ।

ओं श्रियै नमः ॥८॥ इस से ईशान ।
ओं भद्रकाल्यै नमः ॥९॥ इस से नैर्ऋत्य ।
ओं ब्रह्मपतये नमः॥१०॥
ओं वास्तुपतये नमः॥११॥ इन से मध्य ।
ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यो नमः ॥१२॥
ओं दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यो नमः॥१३॥
ओं नक्तंचारिभ्यो भूतेभ्यो नमः॥४॥ इन से ऊपर ।
ओं सर्वात्मभूतये नमः॥१५॥ इस से पृष्ठ ।
ओं पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः॥१६॥ इस से दक्षिण ।

इन मन्त्रों से एक पत्तल वा थाली में यथोक्त दिशाओं में भाग धरना । यदि भाग धरने के समय कोई अतिथि आ जाए तो उसी को दे देना, नहीं तो अग्नि में धर देना । तत्पश्चात् घृतसहित लवणान्न लेके–

शुनां च पतितानां च श्वपचां पापरोगिणाम् ।
वायसानां कृमीणां च शनकैर्निर्वपेद् भुवि ॥

अर्थ–कुत्ता, पतित, चाण्डाल, पापरोगी, काक और कृमि–इन ६ छह नामों से ६ छह भाग पृथिवी में धरे और वे ६ छह भाग जिस-जिस के नाम हैं, उस-उस को देना चाहिए ।।४।।

अथातिथियज्ञः

पांचवाँ–जो धार्मिक, परोपकारी, सत्योपदेशक, पक्षपात रहित शान्त, सर्वहितकारक विद्वानों की अन्नादि से सेवा, उन से प्रश्नोत्तर आदि करके विद्या प्राप्त होना **'अतिथियज्ञ'** कहाता है, उस को नित्य किया करें। इस प्रकार पञ्चमहायज्ञों को स्त्री-पुरुष प्रतिदिन करते रहें ।।५।।

इस के पश्चात् पक्षयज्ञ अर्थात् **पौर्णमासी** और **अमावस्या** के दिन नैत्यिक अग्निहोत्र की आहुति दिये पश्चात् पूर्वोक्त प्रकार पृष्ठ १३ में लिखे प्रमाणे **स्थालीपाक** बनाके निम्नलिखित मन्त्रों से विशेष आहुति करें–

ओम् अग्नये स्वाहा ॥१॥
ओम् अग्नीषोमाभ्यां स्वाहा ॥२॥
ओं विष्णवे स्वाहा ॥३॥

इन ३ तीन मन्त्रों से स्थालीपाक की ३ तीन आहुति देनी। तत्पश्चात् पृष्ठ २१ में लिखे प्रमाणे **व्याहृति आज्याहुति** ४ चार देनी, परन्तु इस

में इतना भेद है कि अमावास्या के दिन—

ओम् अग्नीषोमाभ्यां स्वाहा ॥ इस मन्त्र के बदले—

ओम् इन्द्राग्नीभ्यां स्वाहा ॥

इस मन्त्र को बोलके स्थालीपाक की आहुति देवे ।

इस प्रकार पक्षयाग अर्थात् जिस के घर में **अभाग्य से अग्निहोत्र न होता हो** तो सर्वत्र पक्षयागादि में पृष्ठ १२-१४ में लिखे प्रमाणे यज्ञकुण्ड, यज्ञसामग्री, यज्ञमण्डप; पृष्ठ १८-१९ में लिखे प्रमाणे अग्न्या-धान, समिदाधान; पृष्ठ २०-२१ में लिखे प्रमाणे आघारावाज्यभागाहुति; और पृष्ठ २० में लिखे प्रमाणे वेदी के चारों ओर जलसेचन करके, पृष्ठ ४-११ में लिखे प्रमाणे **ईश्वरोपासना, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण** भी यथायोग्य करें ।

और जब-जब नवान्न आवे, तब-तब नवशस्येष्टि और संवत्सर के आरम्भ में निम्नलिखित विधि करें, अर्थात् जब-जब नवीन अन्न आवे, तब-तब शस्येष्टि करके नवीन अन्न के भोजन का आरम्भ करे ।

नवशस्येष्टि और **संवत्सरेष्टि** करना हो तो जिस दिन प्रसन्नता हो वही शुभ दिन जाने । ग्राम और शहर के बाहर किसी शुद्ध खेत में यज्ञमण्डप करके पृष्ठ ४-२४ तक लिखे प्रमाणे सब विधि करके प्रथम आघारावाज्यभागाहुति ४ चार और व्याहृति आहुति ४ चार तथा अष्टाज्याहुति ८ आठ, ये १६ सोलह आज्याहुति करके, कार्यकर्त्ता—

ओं पृथिवी द्यौः प्रदिशो दिशो यस्मै द्युभिरावृताः ।
तमिहेन्द्रमुपह्वये शिवा नः सन्तु हेतयः स्वाहा ॥१॥

ओं यन्मे किञ्चिदुपेप्सितमस्मिन् कर्मणि वृत्रहन् ।
तन्मे सर्वꣳ समृध्यतां जीवतः शरदः शतꣳ स्वाहा ॥२॥

ओं सम्पत्तिर्भूतिर्भूमिर्वृष्टिर्ज्यैष्ठ्यꣳ श्रैष्ठ्यꣳ श्रीः प्रजामिहावतु स्वाहा ॥ इदमिन्द्राय इदन्न मम ॥३॥

ओं यस्याभावे वैदिकलौकिकानां भूतिर्भवति कर्मणाम् ।
इन्द्रपत्नीमुपह्वये सीताꣳ सा मे त्वनपायिनी भूयात् कर्मणि कर्मणि स्वाहा ॥ इदमिन्द्रपत्न्यै इदन्न मम ॥४॥

ओम् अश्वावती गोमती सूनृतावती बिभर्त्ति या प्राणभृतो अतन्द्रिता । खलमालिनीमुर्वरामस्मिन् कर्मण्युपह्वये ध्रुवाꣳसा मे त्वनपायिनी भूयात् स्वाहा ॥ इदं सीतायै इदन्न मम ॥५॥

इन मन्त्रों से प्रधान होम की ५ पांच आज्याहुति करके—

ओं सीतायै स्वाहा ॥१॥
ओं प्रजायै स्वाहा ॥२॥
ओं शमायै स्वाहा ॥३॥
ओं भूत्यै स्वाहा ॥४॥

इन चार मन्त्रों से चार और पृष्ठ २१ में लिखे प्रमाणे **(यदस्य०)** मन्त्र से **स्विष्टकृत्** होमाहुति १ एक, ऐसे ५ पांच **स्थालीपाक** की आहुति देके, पश्चात् पृष्ठ २२-२३ में लिखे प्रमाणे **अष्टाज्याहुति,** पृष्ठ २१ में लिखे प्रमाणे **व्याहृति आहुति** ४ चार, ऐसे १२ बारह आज्याहुति देके, पृष्ठ २३-२४, ४-११ में लिखे प्रमाणे वामदेव्यगान, **ईश्वरोपासना, स्वस्तिवाचन** और **शान्तिकरण** करके यज्ञ की समाप्ति करें ॥

अथ शालाकर्मविधिं वक्ष्यामः

'शाला' उस को कहते हैं—जो मनुष्य और पश्वादि के रहने अथवा पदार्थ रखने के अर्थ गृह वा स्थानविशेष बनाते हैं। इस के दो विषय हैं-एक प्रमाण और दूसरा विधि । उस में से प्रथम प्रमाण और पश्चात् विधि लिखेंगे ।

अत्र प्रमाणानि—

उपमितां प्रतिमितामथो परिमिताम् उत ।
शालाया विश्ववाराया नद्धानि वि चृतामसि ॥१॥
हविर्धानमग्निशालं पत्नीनां सदनं सदः ।
सदो देवानामसि देवि शाले ॥२॥

अर्थ—मनुष्यों को योग्य है कि जो कोई किसी प्रकार का घर बनावें तो वह (उपमिताम्) सब प्रकार की उत्तम उपमायुक्त कि जिस को देखके विद्वान् लोग सराहना करें। (प्रतिमिताम्) प्रतिमान अर्थात् एक द्वार के सामने दूसरा द्वार कोणे और कक्षा भी सम्मुख हों । (अथो) इस के अनन्तर (परिमिताम्) वह शाला चारों ओर की परिमाण से समचौरस हो । (उत) और (शालायाः) शाला (विश्ववारायाः) अर्थात् उस घर के द्वार चारों ओर के वायु को स्वीकार करनेवाले हों । (नद्धानि) उस के बन्धन और चिनाई दृढ़ हों । हे मनुष्यो ! ऐसी शाला को जैसे हम शिल्पी लोग (विचृतामसि) अच्छे प्रकार ग्रन्थित अर्थात् बन्धनयुक्त करते हैं, वैसे तुम भी करो ॥१॥

उस घर में **एक (हविर्धानम्) होम करने के पदार्थ रखने का स्थान, (अग्निशालम्) अग्निहोत्र का स्थान, (पत्नीनाम्) स्त्रियों के (सदनम्)** रहने का (सदः) स्थान, और **(देवानाम्) पुरुषों और विद्वानों के** रहने-बैठने, मेल-मिलाप करने और सभा का (सदः) स्थान तथा **स्नान, भोजन, ध्यान आदि** का भी पृथक्-पृथक् एक-एक घर बनावे । इस प्रकार की (देवि) दिव्य कमनीय (शाले) बनाई हुई शाला (असि) सुखदायक होती है ॥२॥

अन्तरा द्यां च पृथिवीं च यद्व्यचस्तेन शालां प्रति गृह्णामि त इमाम् । यदन्तरिक्षं रजसो विमानं तत् कृण्वेऽहमुदरं शेवधिभ्यः। तेन शालां प्रति गृह्णामि तस्मै ॥३॥

ऊर्जस्वती पयस्वती पृथिव्यां निर्मिता मिता ।
विश्वान्नं बिभ्रती शाले मा हिंसीः प्रतिगृह्णतः ।।४।।

अर्थः–उस शाला में (अन्तरा) भिन्न-भिन्न (पृथिवीम्) शुद्ध भूमि अर्थात् चारों ओर स्थान शुद्ध हों । (च) और (द्याम्) जिस में सूर्य का प्रतिभास आवे, वैसी प्रकाशस्वरूप भूमि के समान दृढ़ शाला बनावे। (च) और (यत्) जो (व्यचः) उस की व्याप्ति अर्थात् विस्तार हे स्त्रि! (ते) तेरे लिये है, (तेन) उसी से युक्त (इमाम्) इस (शालाम्) घर को बनाता हूं, तू इस में निवास कर, और मैं भी निवास के लिये इस को (प्रतिगृह्णामि) ग्रहण करता हूं । (यत्) जो उस के बीच में (अन्तरिक्षम्) पुष्कल अवकाश और (रजसः) उस घर का (विमानम्) विशेष मान-परिमाणयुक्त **लम्बी ऊंची छत,** और (उदरम्) भीतर का प्रसार विस्तारयुक्त होवे, (तत्) उस को (शेवधिभ्यः) सुख के आधाररूप अनेक कक्षाओं से सुशोभित (अहम्) मैं (कृण्वे) करता हूं। (तेन) उस पूर्वोक्त लक्षणमात्र से युक्त (शालाम्) शाला को (तस्मै) उस गृहाश्रम के सब व्यवहारों के लिये (प्रतिगृह्णामि) ग्रहण करता हूं ।।३।।

जो (शाले) शाला (ऊर्जस्वती) बहुत बलारोग्य पराक्रम को बढ़ानेवाली, और धन-धान्य से पूरित सम्बन्धवाली, (पयस्वती) जल दूध रसादि से परिपूर्ण, (पृथिव्याम्) पृथिवी में (मिता) परिमाणयुक्त (निमिता) निर्मित की हुई (विश्वान्नम्) सम्पूर्ण अन्नादि ऐश्वर्य को (बिभ्रती) धारण करती हुई (प्रतिगृह्णतः) ग्रहण करनेहारों को रोगादि से (मा हिंसीः) पीड़ित न करे, वैसा घर बनाना चाहिये ।।४।।

ब्रह्मणा शालां निर्मितां कविभिर्निर्मितां मिताम् ।
इन्द्राग्नी रक्षतां शालाममृतौ सोम्यं सदः ।।५।।

अर्थः–(अमृतौ) स्वरूप से नाशरहित (इन्द्राग्नी) वायु और पावक, (कविभिः) उत्तम विद्वान् शिल्पियों ने (मिताम्) प्रमाणयुक्त अर्थात् माप में ठीक जैसी चाहिये वैसी (निमिताम्) बनाई हुई (शालाम्) शाला को, और (ब्रह्मणा) चारों वेदों के जाननेहारे विद्वान् ने सब ऋतुओं में सुख देनेहारी (निमिताम्) बनाई (शालाम्) शाला को प्राप्त होकर रहनेवालों को (रक्षताम्) रक्षा करें । अर्थात् चारों ओर का शुद्ध वायु आके अशुद्ध वायु को निकालता रहे, और जिसमें सुगन्ध्यादि घृत का होम किया जाय, वह अग्नि दुर्गन्ध को निकाल सुगन्ध को स्थापन करे। वह (सोम्यम्) ऐश्वर्य आरोग्य सर्वदा सुखदायक (सदः) रहने के लिये उत्तम घर है । उसी को निवास के लिये ग्रहण करे ।।५।।

या द्विपक्षा चतुष्पक्षा षट्पक्षा या निमीयते ।
अष्टापक्षां दशपक्षां शालां मानस्य पत्नीमग्निर्गर्भ इवाशये ॥६॥

अर्थ—हे मनुष्यो ! (या) जो (द्विपक्षा) दो पक्ष अर्थात् मध्य में एक और पूर्व पश्चिम में एक-एक शालायुक्त घर, अथवा (चतुष्पक्षा) जिस के पूर्व पश्चिम दक्षिण और उत्तर में एक-एक शाला, और इन के मध्य में पांचवीं बड़ी शाला, वा (षट्पक्षा) एक बीच में बड़ी शाला और दो-दो पूर्व-पश्चिम तथा एक-एक उत्तर-दक्षिण में शाला हों, (या) जो ऐसी शाला (निमीयते) बनाई जाती है, वह उत्तम होती है । और इस से भी जो (अष्टापक्षाम्) चारों ओर दो-दो शाला और उन के बीच में एक नवमी शाला हो, अथवा (दशपक्षाम्) जिस के मध्य में दो शाला और उन के चारों दिशाओं में दो-दो शाला हों, उस (मानस्य) परिमाण के योग से बनाई हुई (शालाम्) शाला को जैसे (पत्नीम्) पत्नी को प्राप्त होके (अग्निः) अग्निमय आर्त्तव और वीर्य (गर्भ इव) गर्भरूप होके (आशये) गर्भाशय में ठहरता है, वैसे सब शालाओं के द्वार दो-दो हाथ पर सूधे बराबर हों ॥

और जिस की चारों ओर की शालाओं का परिमाण **तीन-तीन गज** और मध्य की शालाओं का **छह-छह गज से परिमाण न्यून न हो और चार-चार गज चारों दिशाओं की,** और **आठ-आठ गज मध्य की शालाओं** का परिमाण हो, अथवा मध्य की शालाओं का **दश-दश गज** अर्थात् **बीस-बीस हाथ से विस्तार अधिक न हो,** बनाकर गृहस्थों को रहना चाहिए। यदि वह सभा का स्थान हो, तो बाहर की ओर द्वारों में चारों ओर कपाट और मध्य में गोल-गोल स्तम्भे बनाकर चारों ओर खुला बनाना चाहिए कि जिस के कपाट खोलने से चारों ओर का वायु उस में आवे। और सब घरों के चारों ओर वायु आने के लिए अवकाश तथा वृक्ष फल और पुष्करणी कुण्ड भी होने चाहियें, वैसे घरों में सब लोग रहें ॥६॥

प्रतीचीं त्वा प्रतीचीनः शाले प्रैम्यहिंसतीम् ।
अग्निर्ह्यन्तरापश्च ऋतस्य प्रथमा द्वाः ॥७॥

अर्थः—जो (शाले) शालागृह (प्रतीचीनः) पूर्वाभिमुख तथा जो गृह (प्रतीचीम्) पश्चिम द्वारयुक्त, (अहिंसतीम्) हिंसादि दोष रहित, अर्थात् पश्चिम द्वार के सम्मुख पूर्व द्वार, जिस में (हि) निश्चय कर (अन्तः) बीच में (अग्निः) अग्नि का घर (च) और (आपः) जल का स्थान (ऋतस्य) और सत्य के ध्यान के लिये एक स्थान (प्रथमा) प्रथम (द्वाः) द्वार है, मैं (त्वा) उस शाला को (प्रैमि) प्रकर्षता से प्राप्त होता हूं ॥७॥

मा नः पाशं प्रति मुचो गुरुर्भारो लघुर्भव ।
वधूमिव त्वा शाले यत्र कामं भरामसि ॥८॥

—अथर्व० कां० ९ । अ० २। वर्ग ३ ॥

अर्थः—हे शिल्पि लोगो ! जैसे (नः) हमारी (शाले) शाला अर्थात् गृह (पाशम्) बन्धन को (मा प्रतिमुचः) कभी न छोड़े, जिस में (गुरुर्भारः) बड़ा भार (लघुर्भव) छोटा होवे, वैसी बनाओ । (त्वा) उस शाला को (यत्र कामम्) जहां जैसी कामना हो वहां वैसी हम लोग (वधूमिव) स्त्री के समान (भरामसि) स्वीकार करते हैं, वैसे तुम भी ग्रहण करो ॥८॥

इस प्रकार प्रमाणों के अनुसार जब घर बन चुके, तब प्रवेश करते समय क्या-क्या विधि करना, सो नीचे लिखे प्रमाणे जानो—

अथ विधिः—जब घर बन चुके, तब उस की शुद्धि अच्छे प्रकार करा, चारों दिशाओं के बाहरले द्वारों में ४ चार वेदी, और एक वेदी घर के मध्य बनावे, अथवा तांबे का वेदी के समान कुण्ड बनवा लेवे कि जिस से सब ठिकाने एक कुण्ड ही में काम हो जावे सब प्रकार की सामग्री अर्थात् पृष्ठ १३-१४ में लिखे प्रमाणे समिधा, घृत, चावल, मिष्ट, सुगन्ध, पुष्टिकारक द्रव्यों को लेके शोधन कर प्रथम दिन रख लेवे । जिस दिन गृहपति का चित्त प्रसन्न होवे, उसी शुभ दिन में गृहप्रतिष्ठा करे ।

वहां ऋत्विज् होता अध्वर्यु और ब्रह्मा का वरण करे, जो कि धर्मात्मा विद्वान् हों । वे सब वेदी से पश्चिम दिशा में बैठें । उन में से होता का आसन और उस पर वह पूर्वाभिमुख, अध्वर्यु का उत्तर में उस पर दक्षिणाभिमुख, उद्गाता का पूर्व दिशा में आसन उस पर वह पश्चिमाभिमुख और ब्रह्मा का दक्षिण दिशा में उत्तमासन बिछा कर उत्तराभिमुख । इस प्रकार चारों आसनों पर चारों पुरुषों को बैठावे, और गृहपति सर्वत्र पश्चिम में पूर्वाभिमुख बैठा करे । ऐसे ही घर के मध्य वेदी के चारों ओर दूसरे आसन बिछा रक्खे ।

पश्चात् निष्क्रम्यद्वार, जिस द्वार से मुख्य करके घर से निकलना और प्रवेश करना होवे, अर्थात् जो मुख्य द्वार हो, उसी द्वार के समीप ब्रह्मा सहित बाहर ठहर कर—

ओम् अच्युताय भौमाय स्वाहा ॥

इस से एक आहुति देकर, ध्वजा का स्तम्भ जिस में ध्वजा लगाई हो, खड़ा करे और घर के ऊपर चारों कोणों पर ४ चार ध्वजा खड़ी करे तथा कार्यकर्त्ता गृहपति स्तम्भ खड़ा करके उस के मूल में जल से सेचन करे, जिससे वह दृढ़ रहे ।

पुनः द्वार के सामने बाहर जाकर नीचे लिखे चार मन्त्रों से जलसेचन करे—

ओम् इमामुच्छ्रयामि भुवनस्य नाभिं वसोर्द्धारां प्रतरणीं वसूनाम्। इहैव ध्रुवां निमिनोमि शालां क्षेमे तिष्ठतु घृतमुच्छ्रयमाणा ॥१॥

इस मन्त्र से पूर्व द्वार के सामने जल छिटकावे ।

अश्वावती गोमती सूनृतावत्युच्छ्रयस्व महते सौभगाय ।
आ त्वा शिशुराक्रन्दन् त्वा गावो धेनवो वाश्यमानाः ॥२॥

इस मन्त्र से दक्षिण द्वार ।

आ त्वा कुमारस्तरुण आ वत्सो जगदैः सह । आ त्वा परिस्रुतः कुम्भ आ दध्नः कलशैरुप । क्षेमस्य पत्नी बृहती सुवासा रयिं नो धेहि सुभगे सुवीर्यम् ॥३॥

इस मन्त्र से पश्चिम द्वार ।

अश्वावद् गोमदूर्जस्वत् पर्णं वनस्पतेरिव ।
अभि नः पूर्यताꣳ रयिरिदमनुश्रेयो वसानः ॥४॥

इस मन्त्र से उत्तर द्वार के सामने जल छिटकावे । तत्पश्चात् सब द्वारों पर पुष्प और पल्लव तथा कदली-स्तम्भ वा कदली के पत्ते भी द्वारों की शोभा के लिये लगाकर, पश्चात् गृहपति—

हे ब्रह्मन् ! प्रविशामीति । ऐसा वाक्य बोले । और ब्रह्मा—

वरं भवान् प्रविशतु ॥

ऐसा प्रत्युत्तर देवे । और ब्रह्मा की अनुमति से—

ओम् ऋचं प्रपद्ये शिवं प्रपद्ये ॥

इस वाक्य को बोलके भीतर प्रवेश करे और जो घृत गरम कर, छान, सुगन्ध मिलाकर रक्खा हो, उस को पात्र में लेके जिस द्वार से प्रथम प्रवेश करे, उसी द्वार से प्रवेश करके, पृष्ठ १८-२० में लिखे प्रमाणे आचमन करके **अग्न्याधान, समिदाधान, जलप्रोक्षण** पृष्ठ २०-२१ में लिखे प्रमाणे घृत की आघारावाज्यभागाहुति ४ चार और व्याहृति आहुति ४ चार, नवमी स्विष्टकृत् आज्याहुति एक, अर्थात् दिशाओं की द्वारस्थ वेदियों में **अग्न्याधान से लेके स्विष्टकृत् आहुतिपर्यन्त विधि करके,** पश्चात् पूर्वदिशा द्वारस्थ कुण्ड में—

ओं प्राच्या॑ दि॒शः शाला॑या॒ नमो॑ महि॒म्ने स्वाहा॑ ॥१॥
ओं दे॒वेभ्यः॑ स्वा॒ह्ये॒भ्यः॒ स्वाहा॑ ॥२॥

इन दो मन्त्रों से **पूर्व** द्वारस्थ वेदी में दो घृताहुति देवे। वैसे ही—

ओं दक्षि॑णाया दि॒शः शाला॑या॒ नमो॑ महि॒म्ने स्वाहा॑ ॥१॥

ओं देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः स्वाहा ॥२॥

इन दो मन्त्रों से **दक्षिण** द्वारस्थ वेदी में एक-एक मन्त्र करके दो आज्याहुति और—

ओं प्रतीच्या दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा ॥१॥

ओं देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः स्वाहा ॥२॥

इन दो मन्त्रों से दो आज्याहुति **पश्चिम**दिशाद्वारस्थ कुण्ड में देवे।

ओम् उदीच्या दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा ॥१॥

ओं देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः स्वाहा ॥२॥

इन से **उत्तर दिशास्थ वेदी** में दो आज्याहुति देवे । पुनः मध्यशालास्थ वेदी के समीप जाके स्व-स्व दिशा में बैठके—

ओं ध्रुवाया दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा ॥१॥

ओं देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः स्वाहा ॥२॥

इन से **मध्य** वेदी में दो आज्याहुति ।

ओम् ऊर्ध्वाया दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा ॥१॥

ओं देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः स्वाहा ॥२॥

इन से भी दो आहुति **मध्यवेदी** में । और—

ओं दिशोदिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा ॥१॥

ओं देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः स्वाहा ॥२॥

इन से भी दो आज्याहुति मध्यस्थ वेदी में देके, पुनः पूर्व दिशास्थ द्वारस्थ वेदी में अग्नि को प्रज्वलित करके वेदी के दक्षिण भाग में ब्रह्मासन तथा होता आदि के पूर्वोक्त प्रकार आसन बिछवा, उसी वेदी के **उत्तर भाग** में एक **कलश स्थापन** कर, पृष्ठ १३ में लिखे प्रमाणे स्थालीपाक बनाके, पृथक् निष्क्रम्यद्वार के समीप जा ठहर कर ब्रह्मादिसहित गृहपति मध्यशाला में प्रवेश करके ब्रह्मादि को दक्षिणादि आसन पर बैठा, स्वयं पूर्वाभिमुख बैठके संस्कृत घी अर्थात् जो गरम कर छान, जिस में कस्तूरी आदि सुगन्ध मिलाया हो, पात्र में लेके **सब के सामने एक-एक पात्र भरके रक्खे** । और चमसा में लेके—

ओं वास्तोष्पते प्रति जानीह्यस्मान्त्स्वावेशो अनमीवो भवा नः।
यत्त्वेमहे प्रति तन्नो जुषस्व शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे स्वाहा ॥१॥
वास्तोष्पते प्रतरणो न एधि गयस्फानो गोभिरश्वेभिरिन्दो ।
अजरासस्ते सख्ये स्याम पितेव पुत्रान् प्रति तन्नो जुषस्व स्वाहा ॥२

वास्तोष्पते शग्मया संसदा ते सक्षीमहि रण्वया गातुमत्या ।
पाहि क्षेम उत योगे वरं नो यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः स्वाहा ॥३॥
—ऋ० मं० ७। सू० ५४॥

अमीवहा वास्तोष्पते विश्वा रूपाण्याविशन् ।
सखा सुशेव एधि नः स्वाहा ॥४॥ —ऋ० मं० ७। सू० ५५। मं० १॥

इन ४ चार मन्त्रों से ४ चार आज्याहुति देके, जो स्थालीपाक अर्थात् भात बनाया हो, उस को दूसरे कांसे के पात्र में लेके, उस पर यथायोग्य घृत सेचन करके अपने-अपने सामने रक्खे और पृथक्-पृथक् थोड़ा-थोड़ा लेकर—

ओम् अग्निमिन्द्रं बृहस्पतिं विश्वाँश्च देवानुपह्वये ।
सरस्वतीञ्च वाजीञ्च वास्तु मे दत्त वाजिनः स्वाहा ॥१॥
सर्पदेवजनान्त्सर्वान् हिमवन्तꣳ सुदर्शनम् ।
वसूँश्च रुद्रानादित्यानीशानं जगदैः सह ।
एतान्त्सर्वान् प्रपद्येहं वास्तु मे दत्त वाजिनः स्वाहा ॥२॥
पूर्वाह्णमपराह्णं चोभौ मध्यन्दिना सह ।
प्रदोषमर्धरात्रं च व्युष्टां देवीं महापथाम् ।
एतान्त्सर्वान् प्रपद्येहं वास्तु मे दत्त वाजिनः स्वाहा ॥३॥
ओं कर्तारञ्च विकर्तारं विश्वकर्माणमोषधींश्च वनस्पतीन्।
एतान्त्सर्वान् प्रपद्येहं वास्तु मे दत्त वाजिनः स्वाहा ॥४
धातारं च विधातारं निधीनां च पतिꣳसह ।
एतान्त्सर्वान् प्रपद्येहं वास्तु मे दत्त वाजिनः स्वाहा ॥५॥
स्योनꣳ शिवमिदं वास्तु दत्तं ब्रह्मप्रजापती ।
सर्वाश्च देवताश्च स्वाहा ॥६॥

स्थालीपाक अर्थात् घृतयुक्त भात की इन छह मन्त्रों से छह आहुति देकर कांस्यपात्र में उदुम्बर=**गूलर, पलाश के पत्ते, शाड्वल=तृणविशेष, गोमय, दही, मधु, घृत, कुशा और यव** को लेके उन सब वस्तुओं को मिलाकर—

ओं श्रीश्च त्वा यशश्च पूर्वे सन्धौ गोपायेताम् ॥१॥
इस मन्त्र से **पूर्व द्वार** ।
यज्ञश्च त्वा दक्षिणा च दक्षिणे सन्धौ गोपयेताम् ॥२॥
इस से **दक्षिण द्वार** ।
अन्नञ्च त्वा ब्राह्मणश्च पश्चिमे सन्धौ गोपायेताम् ॥३॥
इस से **पश्चिम द्वार** ।

ऊर्क् च त्वा सूनृता चोत्तरे सन्धौ गोपायेताम् ॥४॥

इस से **उत्तर द्वार** के समीप उन को **बखेरे, और जलप्रोक्षण** भी करे।

केता च मा सुकेता च पुरस्ताद् गोपायेतामित्यग्निर्वै केताऽऽदित्यः सुकेता तौ प्रपद्ये ताभ्यां नमोऽस्तु तौ मा पुरस्ताद् गोपायेताम् ॥१॥

इस से पूर्व दिशा में **परमात्मा का उपस्थान** करके दक्षिण द्वार के सामने दक्षिणाभिमुख होके—

दक्षिणतो गोपायमानं च मा रक्षमाणा च दक्षिणतो गोपायेतामित्यहर्वै गोपायमानꣳ रात्री रक्षमाणा ते प्रपद्ये ताभ्यां नमोऽस्तु ते मा दक्षिणतो गोपायेताम् ॥२॥

इस प्रकार जगदीश का उपस्थान करके पश्चिम द्वार के सामने पश्चिमाभिमुख होके—

दीदिविश्च मा जागृविश्च पश्चाद् गोपायेतामित्यन्नं वै दीदिविः प्राणो जागृविस्तौ प्रपद्ये ताभ्यां नमोऽस्तु तौ मा पश्चाद् गोपायेताम् ॥३॥

इस प्रकार पश्चिम दिशा में सर्वरक्षक परमात्मा का उपस्थान करके उत्तर दिशा में उत्तर द्वार के सामने उत्तराभिमुख खड़े रहके—

अस्वप्नश्च माऽनवद्राणश्चोत्तरतो गोपायेतामिति चन्द्रमा वा अस्वप्नो वायुरनवद्राणस्तौ प्रपद्ये ताभ्यां नमोऽस्तु तौ मोत्तरतो गोपायेताम् ॥४॥

धर्मस्थूणाराजꣳ श्रीसूर्यामहोरात्रे द्वारफलके । इन्द्रस्य गृहा वसुमन्तो वरूथिनस्तानहं प्रपद्ये सह प्रजया पशुभिस्सह । यन्मे किञ्चिदस्त्युपहूतः सर्वगणः सखा यः साधुसंमतस्तां त्वा शाले अरिष्टवीरा गृहा नः सन्तु सर्वतः ॥५॥

इस प्रकार उत्तर दिशा में सर्वाधिष्ठाता परमात्मा का उपस्थान करके, सुपात्र वेदवित् धार्मिक होता आदि सपत्नीक ब्राह्मण तथा इष्ट मित्र और सम्बन्धियों को उत्तम भोजन कराके, यथायोग्य सत्कार करके दक्षिणा दे, पुरुषों को पुरुष और स्त्रियों को स्त्री प्रसन्नतापूर्वक विदा करें । और वे जाते समय गृहपति और गृहपत्नी आदि को

'सर्वे भवन्तोऽत्राऽऽनन्दिताः सदा भूयासुः ॥'

इस प्रकार आशीर्वाद देके अपने-अपने घर को जावें ।

इसी प्रकार **आराम आदि की भी प्रतिष्ठा करें** । इस में इतना

ही विशेष है कि जिस ओर का वायु बगीचे को जावे, उसी ओर होम करे कि जिस का सुगन्ध वृक्ष आदि को सुगन्धित करे । यदि उस में घर बना हो तो शाला के समान उस की भी प्रतिष्ठा करे ।।

॥ इति शालादिसंस्कारविधिः ॥

इस प्रकार गृहादि की रचना करके गृहाश्रम में जो-जो अपने अपने वर्ण के अनुकूल कर्त्तव्य कर्म हैं, उन-उन को यथावत् करें ।

अथ ब्राह्मणस्वरूपलक्षणम्

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा ।
दानं प्रतिग्रहश्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥१॥ —मनु० ॥
शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥२॥ —गीता ॥

अर्थ—१ एक—निष्कपट होके प्रीति से पुरुष पुरुषों को और स्त्री स्त्रियों को पढ़ावें । २ दो—पूर्ण विद्या पढ़ें । ३ तीन—अग्निहोत्रादि यज्ञ करें । ४ चौथा—यज्ञ करावें । ५ पांच—विद्या अथवा सुवर्ण आदि का सुपात्रों को दान देवें । ६ छठा—न्याय से धनोपार्जन करने वाले गृहस्थों से दान लेवें भी ।

इन में से ३ तीन कर्म—पढ़ना, यज्ञ करना, दान देना धर्म* में और तीन कर्म—पढ़ाना, यज्ञ कराना, दान लेना जीविका हैं । परन्तु—

प्रतिग्रहः प्रत्यवरः ॥ —मनु०

जो दान लेना है वह नीच कर्म है, किन्तु पढ़ाके और यज्ञ कराके जीविका करनी उत्तम है ।।१।।

(शमः) मन को अधर्म में न जाने दे, किन्तु अधर्म करने की इच्छा भी न उठने देवे । (दमः) श्रोत्रादि इन्द्रियों को अधर्माचरण से सदा दूर रक्खे, दूर रखके धर्म ही के बीच में प्रवृत्त रक्खे । (तपः) ब्रह्मचर्य विद्या योगाभ्यास की सिद्धि के लिये शीत-उष्ण, निन्दा-स्तुति, क्षुधा-तृषा, मानापमान आदि द्वन्द्व का सहना । (शौचम्) **राग, द्वेष, मोहादि से मन**

* धर्म नाम **न्यायाचरण । न्याय नाम पक्षपात छोड़के वर्त्तना। पक्षपात छोड़ना नाम सर्वदा अहिंसादि निर्वैरता सत्यभाषणादि में स्थिर रह कर, हिंसा-द्वेषादि और मिथ्याभाषणादि से सदा पृथक् रहना,** सब मनुष्यों का यही एक धर्म है । किन्तु जो-जो धर्म के लक्षण वर्ण-कर्मों में पृथक्-पृथक् आते हैं, इसी से चार वर्ण पृथक्-पृथक् गिने जाते हैं।

और आत्मा को तथा जलादि से शरीर को सदा पवित्र रखना । (क्षान्तिः) क्षमा, अर्थात् कोई निन्दा-स्तुति आदि से सतावें तो भी उन पर कृपालु रहकर क्रोधादि का न करना । (आर्जवम्) निरभिमान रहना, दम्भ स्वात्मश्लाघा अर्थात् अपने मुख से अपनी प्रशंसा न करके नम्र सरल शुद्ध पवित्र भाव रखना । (ज्ञानम्) सब शास्त्रों को पढ़के, विचार कर उन के शब्दार्थ-सम्बन्धों को यथावत् जानकर पढ़ाने का पूर्ण सामर्थ्य करना । (विज्ञानम्) पृथिवी से लेके परमेश्वर-पर्यन्त पदार्थों को जान और क्रियाकुशलता तथा योगाभ्यास से साक्षात् करके यथावत् उपकार ग्रहण करना, कराना । (आस्तिक्यम्) परमेश्वर, वेद, धर्म, परलोक, परजन्म, पूर्वजन्म, कर्मफल और मुक्ति से विमुख कभी न होना । ये **नव कर्म और गुण धर्म में समझना** । सब से उत्तम गुण, कर्म, स्वभाव को धारण करना । ये गुण, कर्म, जिन व्यक्तियों में हों, वे ब्राह्मण और ब्राह्मणी होवें । विवाह भी इन्हीं वर्ण के गुण, कर्म, स्वभावों को मिला ही के करें । मनुष्यमात्र में से इन्हीं को ब्राह्मण वर्ण का अधिकार होवे ।।२।।

अथ क्षत्रियस्वरूपलक्षणम्

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः।।१।। —मनु० ।।
शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रकर्म स्वभावजम् ।।२।। —गीता ।।

अर्थ—दीर्घ ब्रह्मचर्य से (अध्ययनम्) साङ्गोपाङ्ग वेदादिशास्त्रों को यथावत् पढ़ना । (इज्या) अग्निहोत्रादि यज्ञों का करना, (दानम्) सुपात्रों को विद्या सुवर्ण आदि और प्रजा को अभयदान देना, (प्रजानां रक्षणम्) प्रजाओं का सब प्रकार से सर्वदा यथावत् पालन करना, यह धर्म क्षत्रियों के धर्म के लक्षणों में, और शस्त्रविद्या का पढ़ाना, न्यायघर और सेना में जीविका करना क्षत्रियों की जीविका है । (विषयेष्वप्रसक्तिः) विषयों में अनासक्त होके सदा जितेन्द्रिय रहना । लोभ, व्यभिचार, मद्यपानादि नशा आदि दुर्व्यसनों से पृथक् रहकर विनय सुशीलतादि शुभ कर्मों में सदा प्रवृत्त रहना ।।१।।

(शौर्यम्) शस्त्र-संग्राम मृत्यु और शस्त्र प्रहारादि से न डरना । (तेजः) प्रगल्भता, उत्तम प्रतापी होकर किसी के सामने दीन वा भीरु न होना । (धृतिः) चाहे कितनी ही आपत्-विपत् क्लेश-दुःख प्राप्त

हो, तथापि धैर्य रखके कभी न घबराना, (दाक्ष्यम्) संग्राम वाग्युद्ध दूतत्व न्याय विचार आदि सब में अतिचतुर बुद्धिमान् होना , (युद्धे चाप्यपलायनम्) युद्ध में सदा उद्यत रहना, युद्ध से घबराकर शत्रु के वश में कभी न होना, (दानम्) इस का अर्थ प्रथम श्लोक में आ गया, **(ईश्वरभावः) जैसे परमेश्वर सब के ऊपर दया करके पितृवत् वर्तमान, पक्षपात छोड़कर धर्माऽधर्म करनेवालों को यथायोग्य सुखदुःखरूप फल देता, और अपने सर्वज्ञता आदि साधनों से सब का अन्तर्यामी होकर सब के अच्छे-बुरे कर्मों को यथावत् देखता है, वैसे प्रजा के साथ वर्तकर गुप्त दूत आदि से अपने को सर्व प्रजा वा राजपुरुषों के अच्छे-बुरे कर्मों से सदा ज्ञात रखना** । रात दिन न्याय करने और प्रजा को यथावत् सुख देने, श्रेष्ठों का मान और दुष्टों को दण्ड करने में सदा प्रवृत्त रहना। और सब प्रकार से **अपने शरीर को रोगरहित बलिष्ठ दृढ़ तेजस्वी दीर्घायु रखके आत्मा** को न्याय धर्म में चलाकर कृतकृत्य करना आदि गुण, कर्मों का योग जिस व्यक्ति में हो, वह क्षत्रिय और क्षत्रिया होवे ।

इन का भी इन्हीं गुण-कर्मों के मेल से विवाह करना । और जैसे ब्राह्मण पुरुषों और ब्राह्मणी स्त्रियों को पढ़ावे, वैसे ही राजा पुरुषों, राणी स्त्रियों का न्याय तथा उन्नति सदा किया करे । जो क्षत्रिय राजा न हों वे भी राज में ही यथाधिकार से नौकरी किया करें ।।२।।

अथ वैश्यस्वरूपलक्षणम्

पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च ।। —मनु० ।।

अर्थ—(अध्ययनम्) वेदादि शास्त्रों का पढ़ना, (इज्या) अग्निहोत्रादि यज्ञों का करना, (दानम्) अन्नादि का दान देना, ये तीन धर्म के लक्षण हैं **और (पशूनां रक्षणम्) गाय आदि पशुओं का पालन करना, उन के दुग्धादि का बेचना, (वणिक्पथम्) नाना देशों की भाषा, हिसाब, भूगर्भविद्या, भूमि, बीज आदि के गुण जानना और सब पदार्थों के भावाभाव समझना, (कुसीदम्) ब्याज का लेना*,**

* सवा रुपये सैकड़े से अधिक, चार आने से न्यून ब्याज न लेवे न देवे। जब दूना धन आ जाये उससे आगे कौड़ी न लेवे न देवे । जितना न्यून ब्याज लेवेगा, उतना ही उसका धन बढ़ेगा और कभी धन का नाश और कुसन्तान उसके कुल में न होंगे ।

(कृषिमेव च) खेती की विद्या का जानना, अन्न आदि की रक्षा, खात और भूमि की परीक्षा, जोतना-बोना आदि व्यवहार का जानना, ये चार कर्म वैश्य की जीविका। ये गुण-कर्म जिस व्यक्ति में हों, वह वैश्य-वैश्या और इन्हीं की परस्पर परीक्षा और योग से विवाह होना चाहिये ।।

अथ शूद्रस्वरूपलक्षणम्

एकमेव हि शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत् ।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषाम् अनसूयया ।। —मनु०।।

अर्थ—(प्रभुः) परमेश्वर ने (शूद्रस्य) जो विद्याहीन, जिस को पढ़ने से भी विद्या न आ सके, शरीर से पुष्ट, सेवा में कुशल हो, उस शूद्र के लिये (एतेषामेव वर्णानाम्) इन ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीनों वर्णों की (अनसूयया) निन्दा से रहित प्रीति से सेवा करना, (एकमेव कर्म) यही एक कर्म (समादिशत्) करने की आज्ञा दी है । ये मूर्खत्वादि गुण और सेवा आदि कर्म जिस व्यक्ति में हों, वह शूद्र और शूद्रा है । इन्हीं की परीक्षा से इन का विवाह और इन को अधिकार भी ऐसा ही होना चाहिए ।।

इन गुणकर्मों के योग ही से चारों वर्ण होवें तो उस कुल देश और मनुष्यसमुदाय की बड़ी उन्नति होवे और जिन का जन्म जिस वर्ण में हो उसी के सदृश गुण, कर्म, स्वभाव हों तो अतिविशेष है ।

अब सब ब्राह्मणादि वर्णवाले मनुष्य लोग अपने-अपने कर्मों में निम्नलिखित रीति से बर्तें—

वेदोदितं स्वकं कर्म नित्यं कुर्यादतन्द्रितः ।
तद्धि कुर्वन् यथाशक्ति प्राप्नोति परमां गतिम् ।।१।।
नेहेतार्थान् प्रसङ्गेन न विरुद्धेन कर्मणा ।
न विद्यमानेष्वर्थेषु नार्त्यामपि यतस्ततः ।।२।।

अर्थः—ब्राह्मणादि द्विज वेदोक्त अपने कर्म को आलस्य छोड़के नित्य किया करें । उस को अपने सामर्थ्य के अनुसार करते हुए मुक्ति पर्यन्त पदार्थों को प्राप्त होते हैं ।।१।।

गृहस्थ कभी किसी दुष्ट के प्रसङ्ग से द्रव्यसञ्चय न करे, न विरुद्ध कर्म से, न विद्यमान पदार्थ होते हुए उन को गुप्त रखके, दूसरे से छल करके और चाहे कितना ही दुःख पड़े तदपि अधर्म से द्रव्य-सञ्चय कभी न करे ।।२।।

इन्द्रियार्थेषु सर्वेषु न प्रसज्येत कामतः ।
अतिप्रसक्तिं चैतेषां मनसा सन्निवर्तयेत् ।।३।।

सर्वान् परित्यजेदर्थान् स्वाध्यायस्य विरोधिनः ।
यथा तथाऽध्यापयँस्तु सा ह्यस्य कृतकृत्यता ।।४।।

अर्थ–इन्द्रियों के विषयों में काम से कभी न फंसे और विषयों की अत्यन्त प्रसक्ति अर्थात् प्रसंग को मन से अच्छे प्रकार दूर करता रहे ।।३।।

जो स्वाध्याय और धर्म–विरोधी व्यवहार वा पदार्थ हैं, उन सब को छोड़ देवे । जिस–किसी प्रकार से विद्या को पढ़ाते रहना ही गृहस्थ को कृतकृत्य होना है ।।४।।

बुद्धिवृद्धिकराण्याशु धन्यानि च हितानि च ।
नित्यं शास्त्राण्यवेक्षेत निगमांश्चैव वैदिकान् ।।५।।
यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति ।
तथा तथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते ।।६।।
न संवसेच्च पतितैर्न चाण्डालैर्न पुक्कशैः ।
न मूर्खैर्नावलिप्तैश्च नान्त्यैर्नान्त्यावसायिभिः ।।७।।
नात्मानमवमन्येत पूर्वाभिरसमृद्धिभिः ।
आमृत्योः प्रियमन्विच्छेन्नैनां मन्येत दुर्लभाम् ।।८।।
सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम् ।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ।।९।।

अर्थ–हे स्त्री पुरुषो ! तुम जो धर्म धन और बुद्ध्यादि को अत्यन्त शीघ्र बढ़ानेहारे हितकारी शास्त्र हैं उन को और वेद के भागों की विद्याओं को नित्य देखा करो ।।५।।

मनुष्य जैसे–जैसे शास्त्र का विचार कर उस के यथार्थ भाव को प्राप्त होता है, वैसे–वैसे अधिक–अधिक जानता जाता है और इस की प्रीति विज्ञान ही में होती जाती है ।।६।।

सज्जन गृहस्थ लोगों को योग्य है कि जो पतित दुष्ट कर्म करनेहारे हों न उन के, न चाण्डाल, न कञ्जर, न मूर्ख, न मिथ्याभिमानी और न नीच निश्चयवाले मनुष्यों के साथ कभी निवास करें ।।७।।

गृहस्थ लोग कभी प्रथम पुष्कल धनी होके पश्चात् दरिद्र हो जायें, उस से अपने आत्मा का अवमान न करें कि 'हाय हम निर्धनी हो गये' इत्यादि विलाप भी न करें, किन्तु मृत्युपर्यन्त लक्ष्मी की उन्नति में पुरुषार्थ किया करें और लक्ष्मी को दुर्लभ न समझें ।।८।।

मनुष्य सदैव सत्य बोलें, और दूसरे को कल्याणकारक उपदेश करें। काणे को काणा और मूर्ख को मूर्ख आदि अप्रिय वचन उन के सम्मुख

कभी न बोलें और जिस मिथ्याभाषण से दूसरा प्रसन्न होता हो उस को भी न बोलें, यह सनातन धर्म है ।।९।।

अभिवादयेद् वृद्धाँश्च दद्याच्चैवासनं स्वकम् ।
कृताञ्जलिरुपासीत गच्छतः पृष्ठतोऽन्वियात् ।।१०।।
श्रुतिस्मृत्युदितं सम्यङ् निबद्धं स्वेषु कर्मसु ।
धर्ममूलं निषेवेत सदाचारमतन्द्रितः ।।११।।
आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः ।
आचाराद् धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम् ।।१२।।
दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः ।
दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च ।।१३।।
सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान् नरः ।
श्रद्दधानोऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति ।।१४।।

अर्थ—सदा विद्यावृद्धों और वयोवृद्धों को 'नमस्ते' अर्थात् उन का मान्य किया करे । जब वे अपने समीप आवें, तब उठकर मान्यपूर्वक ले अपने आसन पर बैठावे । और हाथ जोड़के आप समीप बैठे पूछे, वे उत्तर देवें । और जब जाने लगें, तब थोड़ी दूर पीछे-पीछे जाकर 'नमस्ते' कर विदा किया करे । और वृद्ध लोग हर वार निकम्मे जहां-तहां न जाया करें ।।१०।।

गृहस्थ सदा आलस्य को छोड़कर वेद और मनुस्मृति में वेदानुकूल कहे हुए अपने कर्मों में निबद्ध, और धर्म का मूल सदाचार, अर्थात् सत्य और सत्पुरुष आप्त धर्मात्माओं का जो आचरण है, उस का सेवन सदा किया करें ।।११।।

धर्माचरण ही से दीर्घायु, उत्तम प्रजा और अक्षय धन को मनुष्य प्राप्त होता है और धर्माचार बुरे अधर्मयुक्त लक्षणों का नाश कर देता है ।।१२।।

और जो दुष्टाचारी पुरुष होता है, वह सर्वत्र निन्दित दुःखभागी और व्याधि से अल्पायु सदा हो जाता है ।।१३।।

जो सब अच्छे लक्षणों से हीन भी होकर सदाचारयुक्त, सत्य में श्रद्धा और निन्दा आदि दोषरहित होता है, वह सुख से सौ वर्ष पर्यन्त जीता है ।।१४।।

यद्यत् परवशं कर्म तत्तद् यत्नेन वर्जयेत् ।
यद्यदात्मवशं तु स्यात् तत्तत् सेवेत यत्नतः ।।१५।।

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम् ।
एतद्विद्यात् समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः ॥१६॥
अधार्मिको नरो यो हि यस्य चाप्यनृतं धनम् ।
हिंसारतश्च यो नित्यं नेहासौ सुखमेधते ॥१७॥

अर्थ–मनुष्य जो-जो पराधीन कर्म हो, उस-उस को प्रयत्न से सदा छोड़े और जो-जो स्वाधीन कर्म हो, उस-उस का सेवन प्रयत्न से किया करे ॥१५॥

क्योंकि जितना परवश होना है वह सब दुःख और जितना स्वाधीन रहना है वह सब सुख कहाता है । यही संक्षेप से सुख और दुःख का लक्षण जानो ॥१६॥

जो अधार्मिक मनुष्य है और जिस का अधर्म से सञ्चित किया हुआ धन है और जो सदा हिंसा में अर्थात् वैर में प्रवृत्त रहता है, वह इस लोक और परलोक अर्थात् परजन्म में सुख को कभी नहीं प्राप्त हो सकता ॥१७॥

नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव ।
शनैरावर्त्तमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृन्तति ॥१८॥
यदि नात्मनि पुत्रेषु न चेत् पुत्रेषु नप्तृषु ।
न त्वेवन्तु कृतोऽधर्मः कर्त्तुर्भवति निष्फलः ॥१९॥
सत्यधर्मार्यवृत्तेषु शौचे चैवारमेत् सदा ।
शिष्याँश्च शिष्याद् धर्मेण वाग्बाहूदरसंयतः ॥२०॥

अर्थ–मनुष्य निश्चय करके जाने कि इस संसार में जैसे गाय की सेवा का फल दूध आदि शीघ्र नहीं होता, वैसे ही किये हुए अधर्म का फल भी शीघ्र नहीं होता । किन्तु धीरे-धीरे अधर्म कर्त्ता के सुखों को रोकता हुआ सुख के मूलों को काट देता है । पश्चात् अधर्मी दुःख ही दुःख भोगता है ॥१८॥

यदि अधर्म का फल कर्त्ता की विद्यमानता में न हो तो पुत्रों, और पुत्रों के समय में न हो तो नातियों के समय में अवश्य प्राप्त होता है । किन्तु यह कभी नहीं हो सकता कि कर्त्ता का किया हुआ कर्म निष्फल होवे ॥१९॥

इसलिए मनुष्यों को योग्य है कि सत्य धर्म और आर्य अर्थात् उत्तम पुरुषों के आचरणों और भीतर बाहर की पवित्रता में सदा रमण करें। अपनी वाणी, बाहू, उदर को नियम और सत्यधर्म के साथ वर्त्तमान रखके शिष्यों को सदा शिक्षा किया करें ॥२०॥

परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ ।
धर्मं चाप्यसुखोदर्कं लोकविक्रुष्टमेव च ॥२१॥
धर्मं शनैस्सञ्चिनुयाद् वल्मीकमिव पुत्तिकाः ।
परलोकसहायार्थं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥२२॥
उत्तमैरुत्तमैर्नित्यं सम्बन्धानाचरेत् सह ।
निनीषुः कुलमुत्कर्षमधमानधमाँस्त्यजेत् ॥२३॥
वाच्यर्था नियताः सर्वे वाङ्मूला वाग्विनिःसृताः।
तान्तु यः स्तेनयेद्वाचं स सर्वस्तेयकृन्नरः ॥२४॥
स्वाध्यायेन जपैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः ।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ॥२५॥

—मनु० ॥

अर्थ—जो धर्म से वर्जित धनादि पदार्थ और काम हों, उन को सर्वथा शीघ्र छोड़ देवे । और जो धर्माभास अर्थात् उत्तरकाल में दुःखदायक कर्म हैं, और जो लोगों को निन्दित कर्म में प्रवृत्त करनेवाले कर्म हैं, उन से भी दूर रहे ॥२१॥

जैसे दीमक धीरे-धीरे बड़े भारी घर को बना लेती हैं, वैसे मनुष्य परजन्म के सहाय के लिये सब प्राणियों को पीड़ा न देकर धर्म का सञ्चय धीरे-धीरे किया करे ॥२२॥

जो मनुष्य अपने कुल को उत्तम करना चाहे, वह नीच-नीच पुरुषों का सम्बन्ध छोड़कर नित्य अच्छे-अच्छे पुरुषों से सम्बन्ध बढ़ाता जावे ॥२३॥

जिस वाणी में सब व्यवहार निश्चित, वाणी ही जिन का मूल और जिस वाणी ही से सब व्यवहार सिद्ध होते हैं, **जो मनुष्य उस वाणी को चोरता अर्थात् मिथ्याभाषण करता है, वह जानो सब चोरी आदि पाप ही को करता है ।** इसलिये मिथ्याभाषण को छोड़के सदा सत्यभाषण ही किया करे ॥२४॥

मनुष्यों को चाहिये कि धर्म से वेदादि शास्त्रों का पठन-पाठन, गायत्री-प्रणवादि का अर्थविचार, ध्यान, अग्निहोत्रादि होम, कर्मोपासना, ज्ञान-विद्या, पौर्णमास्यादि इष्टि, पञ्चमहायज्ञ, अग्निष्टोम आदि, न्याय से राज्यपालन, सत्योपदेश और योगाभ्यासादि उत्तम कर्मों से इस शरीर को ब्राह्मी अर्थात् ब्रह्मसम्बन्धी करें ॥२५॥

अथ सभास्वरूपलक्षणम्—जो-जो विशेष बड़े-बड़े काम हों

जैसा कि राज्य, वे सब सभा से निश्चय करके किये जावें। इसमें प्रमाण—

तं सभा च समितिश्च सेना च ॥१॥

—अथर्व० कां० १५ । सू० ९ । मं० २॥

सभ्य सभां मे पाहि ये च सभ्याः सभासदः ॥२॥

—अथर्व० कां० १९ । सू० ५५ । मं० ६॥

त्रीणि राजाना विदथे पुरूणि परि विश्वानि भूषथः सदांसि॥३॥

—ऋ० मं० ३ । सू० ३८ । मं० ६॥

अर्थ—(तम्) जो कि संसार में धर्म के साथ राज्यपालनादि किया जाता है, उस व्यवहार को सभा और संग्राम तथा सेना सब प्रकार सञ्चित करे ॥१॥

हे सभ्य सभा के योग्य सभापते राजन्! तू (मे) मेरी (सभाम्) सभा की (पाहि) रक्षा और उन्नति किया कर। (ये च) और जो (सभ्याः) सभा के योग्य धार्मिक आप्त (सभासदः) सभासद् विद्वान् लोग हैं, वे भी सभा की योजना रक्षा और उस से सब की उन्नति किया करें ॥२॥

जो (राजाना) राजा और प्रजा के भद्र पुरुषों के दोनों समुदाय हैं, वे (विदथे) उत्तम ज्ञान और लाभदायक इस जगत् अथवा संग्रामादि कार्यों में (त्रीणि) राजसभा, धर्मसभा और विद्यासभा, अर्थात् विद्यादि व्यवहारों की वृद्धि के लिये ये तीन प्रकार की (सदांसि) सभा नियत करें। इन्हीं से संसार की सब प्रकार उन्नति करें ॥३॥

अनाम्नातेषु धर्मेषु कथं स्यादिति चेद्भवेत् ।
यं शिष्टा ब्राह्मणा ब्रूयुस्स धर्मः स्यादशङ्कितः ॥१॥
धर्मेणाधिगतो यैस्तु वेदः सपरिबृंहणः ।
ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेयाः श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः ॥२॥

अर्थः—हे गृहस्थ लोगो ! जो धर्मयुक्त व्यवहार मनुस्मृति आदि में प्रत्यक्ष न कहे हों, यदि उन में शंका होवे तो तुम जिस को शिष्ट आप्त विद्वान् कहें, उसी को शङ्कारहित कर्तव्य धर्म मानो ॥१॥

शिष्ट सब मनुष्यमात्र नहीं होते, किन्तु जिन्होंने पूर्ण ब्रह्मचर्य और धर्म से साङ्गोपाङ्ग वेद पढ़ें हों, जो श्रुति प्रमाण और प्रत्यक्षादि प्रमाणों ही से विधि वा निषेध करने में समर्थ धार्मिक परोपकारी हों, वे ही शिष्ट पुरुष होते हैं ॥२॥

दशावरा वा परिषद् यं धर्मं परिकल्पयेत् ।
त्र्यवरा वापि वृत्तस्था तं धर्मं न विचालयेत् ॥३॥

त्रैविद्यो हैतुकस्तर्की नैरुक्तो धर्मपाठकः ।
त्रयश्चाश्रमिणः पूर्वे परिषत् स्याद् दशावरा ॥४॥
ऋग्वेदविद् यजुर्विच्च सामवेदविदेव च ।
त्र्यवरा परिषज्ज्ञेया धर्मसंशयनिर्णये ॥५॥
एकोऽपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येद् द्विजोत्तमः ।
स विज्ञेयः परो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः ॥६॥

अर्थः—वैसे शिष्ट न्यून से न्यून १० दश पुरुषों की सभा होवे, अथवा बड़े विद्वान् तीनों की भी सभा हो सकती है । जो सभा से धर्म-कर्म निश्चित हों, उन का भी आचरण सब लोग करें ॥३॥

उन दशों में इस प्रकार के विद्वान् होवें—३ तीन वेदों के विद्वान्, चौथा हैतुक अर्थात् कारण-अकारण का ज्ञाता, पांचवां तर्की=न्यायशास्त्रवित्, छठा निरुक्त का जाननेहारा, सातवां धर्मशास्त्रवित्, आठवां ब्रह्मचारी, नववां गृहस्थ और दशवां वानप्रस्थ—इन महात्माओं की सभा होवे ॥४॥

तथा ऋग्वेदवित् यजुर्वेदवित् और सामवेदवित् इन तीनों विद्वानों की भी सभा धर्मसंशय अर्थात् सब व्यवहारों के निर्णय के लिये होनी चाहिए और जितने सभा में अधिक पुरुष हों, उतनी ही उत्तमता है ॥५॥

द्विजों में उत्तम अर्थात् चतुर्थाश्रमी संन्यासी अकेला भी जिस धर्म-व्यवहार के करने का निश्चय करे, वही कर्तव्य परम धर्म समझना, किन्तु अज्ञानियों के सहस्त्रों लाखों और क्रोडह पुरुषों का कहा हुआ धर्मव्यवहार कभी न मानना चाहिए किन्तु धर्मात्मा विद्वानों और विशेष परमविद्वान् संन्यासी का वेदादि प्रमाणों से कहा हुआ धर्म सब को मानने योग्य है।॥६॥

यदि सभा में मतभेद हो तो बहुपक्षानुसार मानना और समपक्ष में उत्तमों की बात स्वीकार करनी । और दोनों पक्षवाले बराबर उत्तम हों तो वहां संन्यासियों की सम्मति लेनी। जिधर पक्षपातरहित सर्वहितैषी संन्यासियों की सम्मति होवे, वही उत्तम समझनी चाहिए ।

चतुर्भिरपि चैवैतैर्नित्यमाश्रमिभिर्द्विजैः ।
दशलक्षणको धर्मस्सेवितव्यः प्रयत्नतः ॥७॥
धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥८॥ —मनु० ॥

अर्थ—ब्रह्मचारी गृहस्थ वानप्रस्थ संन्यासी आदि सब मनुष्यों को योग्य है कि निम्नलिखित धर्म का सेवन और उस से विरुद्ध अधर्म का त्याग प्रयत्न से किया करें ॥७॥

धर्म, न्याय नाम पक्षपात छोड़कर सत्य ही का आचरण और असत्य का सर्वदा परित्याग रखना । इस धर्म के ग्यारह लक्षण हैं (अहिंसा) किसी से वैर-बुद्धि करके उस के अनिष्ट करने में कभी न वर्तना। (धृतिः) सुख-दुःख हानि-लाभ में भी व्याकुल होकर धर्म को न छोड़ना, किन्तु धैर्य से धर्म ही में स्थिर रहना । (क्षमा) निन्दा-स्तुति, मानापमान का सहन करके धर्म ही करना । (दमः) मन को अधर्म से सदा हटाकर धर्म ही में प्रवृत्त रखना । (अस्तेयम्) मन, कर्म, वचन से अन्याय और अधर्म से पराये द्रव्य का स्वीकार न करना (शौचम्) राग-द्वेषादि त्याग से आत्मा और मन को पवित्र और जलादि से शरीर को शुद्ध रखना। (इन्द्रियनिग्रहः) श्रोत्रादि बाह्य इन्द्रियों को अधर्म से हटाके धर्म ही में चलाना । (धीः) वेदादि सत्यविद्या ब्रह्मचर्य सत्सङ्ग करने और कुसङ्ग दुर्व्यसन, मद्यपानादि त्याग से बुद्धि को सदा बढ़ाते रहना । (विद्या) जिससे भूमि से लेके परमेश्वरपर्यन्त का यथार्थ बोध होता है, उस विद्या को प्राप्त होना । (सत्यम्) सत्य मानना, सत्य बोलना, सत्य करना । (अक्रोधः) क्रोधादि दोषों को छोड़कर शान्त्यादि गुणों का ग्रहण करना धर्म कहाता है, इस का ग्रहण और अन्याय पक्षपात-सहित आचरण अधर्म, जो कि हिंसा=वैर-बुद्धि, अधैर्य, असहन, मन को अधर्म में चलाना, चोरी करना, अपवित्र रहना, इन्द्रियों को न जीत कर अधर्म में चलाना, कुसङ्ग, दुर्व्यसन, मद्यपानादि से बुद्धि का नाश करना, अविद्या जो कि अधर्माचरण अज्ञान है उस में फंसना, असत्य मानना असत्य बोलना, क्रोधादि दोषों में फंसकर अधर्मी दुष्टाचारी होना, ये ग्यारह अधर्म के लक्षण हैं । इन से सदा दूर रहना चाहिए ॥८॥

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा,
न ते वृद्धा ये न वदन्ति धर्मम् ।
नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति,
न तत् सत्यं यच्छलेनाभ्युपेतम् ॥९॥

—महाभारते० ॥

सभां वा न प्रवेष्टव्यं वक्तव्यं वा समञ्जसम् ।
अब्रुवन् विब्रुवन् वापि नरो भवति किल्विषी ॥१०॥
धर्मो विद्धस्त्वधर्मेण सभां यत्रोपतिष्ठते ।
शल्यं चास्य न कृन्तन्ति विद्धास्तत्र सभासदः ॥११॥
विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः ।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तन्निबोधत ॥१२॥

अर्थ—वह सभा नहीं है, जिस में वृद्ध पुरुष न होवें । वे वृद्ध नहीं हैं, जो धर्म ही की बात नहीं बोलते । वह धर्म नहीं है, जिस में सत्य नहीं और न वह सत्य है जो कि छल से युक्त हो ।।९।।

मनुष्य को योग्य है कि सभा में प्रवेश न करे । यदि सभा में प्रवेश करे तो सत्य ही बोले । यदि सभा में बैठा हुआ भी असत्य बात को सुनके मौन रहे, अथवा सत्य के विरुद्ध बोले, वह मनुष्य अतिपापी है ।।१०।।

अधर्म से धर्म घायल होकर जिस सभा में प्राप्त होवे, उस के घाव को यदि सभासद् न पूर देवें, तो निश्चय जानो कि उस सभा में सब सभासद् ही घायल पड़े हैं ।।११।।

जिस को सत्पुरुष राग-द्वेषरहित विद्वान् अपने हृदय से अनुकूल जानकर सेवन करते हैं, उसी पूर्वोक्त को तुम लोग धर्म जानो ।।१२।।

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः ।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत् ।।१३।।
वृषो हि भगवान् धर्मस्तस्य यः कुरुते ह्यलम् ।
वृषलं तं विदुर्देवास्तस्माद् धर्मं न लोपयेत् ।।१४।।

अर्थः—जो पुरुष धर्म का नाश करता है, उसी का नाश धर्म कर देता है और जो धर्म की रक्षा करता है, उस की धर्म भी रक्षा करता है । इसलिए मारा हुआ धर्म कभी हम को न मार डाले, इस भय से धर्म का हनन अर्थात् त्याग कभी न करना चाहिए ।।१३।।

जो सुख की वृष्टि करनेहारा सब ऐश्वर्य का दाता धर्म है, उस का जो लोप करता है, उस को विद्वान् लोग वृषल अर्थात् नीच समझते हैं ।।१४।।

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद् धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
धर्मो नित्यः सुखदुःखे त्वनित्ये जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः ।।१५
—महाभारते ।।

यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च ।
हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदः ।।१६।। —मनु० ।।
निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु,
लक्ष्मीस्समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम् ।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ।।१७।। —भर्तृहरिः ।।

अर्थ—मनुष्यों को योग्य है कि काम से, अर्थात् झूठ से कामना सिद्ध

होने के कारण से, वा निन्दा, स्तुति आदि के भय से भी धर्म का त्याग कभी न करें, और न लोभ से । चाहे झूठ अधर्म से चक्रवर्ती राज्य भी मिलता हो, तथापि धर्म को छोड़कर चक्रवर्ती राज्य को भी ग्रहण न करें । चाहे भोजन-छादन जलपान आदि की जीविका भी अधर्म से हो सके वा प्राण जाते हों, परन्तु जीविका के लिये भी धर्म को कभी न छोड़ें । क्योंकि जीव और धर्म नित्य हैं तथा सुख-दुःख दोनों अनित्य हैं । अनित्य के लिये नित्य का छोड़ना अतीव दुष्ट कर्म है। इस धर्म का हेतु कि जिस शरीर आदि से धर्म होता है, वह भी अनित्य है । धन्य वे मनुष्य हैं, जो अनित्य शरीर और सुख-दुःखादि के व्यवहार में वर्त्तमान होकर नित्य धर्म का त्याग कभी नहीं करते ।।१५।।

जिस सभा में बैठे हुए सभासदों के सामने अधर्म से धर्म और झूठ से सत्य का हनन होता है, उस सभा में सब सभासद् मरे से ही हैं ।।१६।।

सब मनुष्यों को यह निश्चय जानना चाहिए कि चाहे सांसारिक अपने प्रयोजन की नीति में वर्त्तनेहारे चतुर पुरुष निन्दा करें वा स्तुति करें, लक्ष्मी प्राप्त होवे अथवा नष्ट हो जावे, आज ही मरण होवे अथवा वर्षान्तर में मृत्यु प्राप्त होवे, तथापि जो मनुष्य धर्मयुक्त मार्ग से एक पग भी विरुद्ध नहीं चलते, वे ही धीर पुरुष धन्य हैं ।।१७।।

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथा पूर्वे सं जानाना उपासते ।।१।।

—ऋ० म० १० । सू० १९१ । मं० २।।

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः ।
अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धाꣳ सत्ये प्रजापतिः ।।२।।

—यजु० अ० १९। मं० ७७।।

सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै ।
तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ।।
ओं शान्तिश्शान्तिश्शान्तिः ।।३।।

—तै० आर० अष्टमप्रपाठकः । प्रथमानुवाकः ।।

अर्थः—हे गृहस्थादि मनुष्यो ! तुम को मैं ईश्वर आज्ञा देता हूं कि (यथा) जैसे (पूर्वे) प्रथम अधीतविद्यायोगाभ्यासी, (सं जानानाः) सम्यक् जाननेवाले, (देवाः) विद्वान् लोग मिलके (भागम्) सत्य असत्य का निर्णय करके, असत्य को छोड़, सत्य की (उपासते) उपासना करते हैं, वैसे (सं जानताम्) आत्मा से धर्माऽधर्म, प्रियाऽप्रिय को सम्यक्

जाननेहारे (वः) तुम्हारे (मनांसि) मन एक-दूसरे से अविरोधी होकर एक पूर्वोक्त धर्म में सम्मत होवें । और तुम उसी धर्म को (सं गच्छध्वम्) सम्यक् मिलके प्राप्त होओ, जिस में तुम्हारी एक सम्मति होती है और विरुद्धवाद अधर्म को छोड़के (संवदध्वम्) सम्यक् संवाद प्रश्नोत्तर प्रीति से करके एक-दूसरे की उन्नति किया करो ।।१।।

(प्रजापतिः) सकल सृष्टि की उत्पत्ति और पालन करनेहारा सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, न्यायकारी अद्वितीय स्वामी परमात्मा (सत्यानृते) सत्य और अनृत (रूपे) भिन्न-भिन्न स्वरूपवाले धर्म-अधर्म को (दृष्ट्वा) अपनी सर्वज्ञता से यथावत् देखके (व्याकरोत्) भिन्न-भिन्न निश्चित करता है । (अनृते) मिथ्याभाषणादि अधर्म में (अश्रद्धाम्) अप्रीति को और (प्रजापतिः) वही परमात्मा (सत्ये) सत्यभाषणादिलक्षणयुक्त न्याय पक्षपातरहित धर्म में तुम्हारी (श्रद्धाम्) प्रीति को (अदधात्) धारण कराता है, वैसा ही तुम करो ।।२।।

हम स्त्री-पुरुष सेवक-स्वामी मित्र-मित्र पिता-पुत्रादि (सह) मिलके (नौ) हम दोनों प्रीति से (अवतु) एक-दूसरे की रक्षा किया करें और (सह) प्रीति से मिलके एक-दूसरे के (वीर्यम्) पराक्रम की बढ़ती (करवावहै) सदा किया करें । (नौ) हमारा (अधीतम्) पढ़ा-पढ़ाया (तेजस्वि) अतिप्रकाशमान (अस्तु) होवे और हम एक-दूसरे से (मा विद्विषावहै) कभी विद्वेष विरोध न करें, किन्तु सदा मित्र-भाव और एक-दूसरे के साथ सत्य प्रेम से वर्तकर सब गृहस्थों के सद्व्यवहारों को बढ़ाते हुए सदा आनन्द में बढ़ते जावें । जिस परमात्मा का यह 'ओम्' नाम है, उस की कृपा और अपने धर्मयुक्त पुरुषार्थ से हमारे **शरीर मन और आत्मा का त्रिविध दुःख, जो कि अपने और दूसरे से होता है,** नष्ट हो जावे और हम लोग प्रीति से एक-दूसरे के साथ वर्तके धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि में सफल होके सदैव स्वयम् आनन्द में रहकर सब को आनन्द में रक्खें ।।३।।

इति गृहाश्रमसंस्कारविधिः समाप्तः ।।